

आचार्य वर्धमानसूरीकृत

आचारदिनकर

द्वितीय-खण्ड

जैन मुनि जीवन के विधि-विधान

सम्प्रेरक

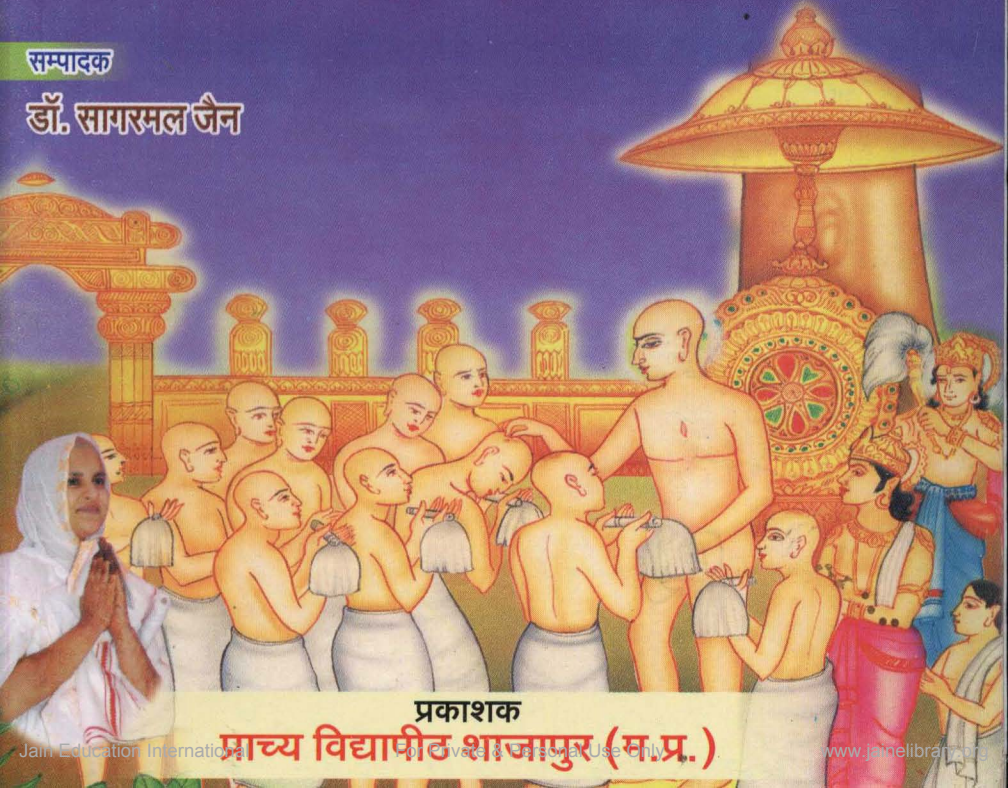
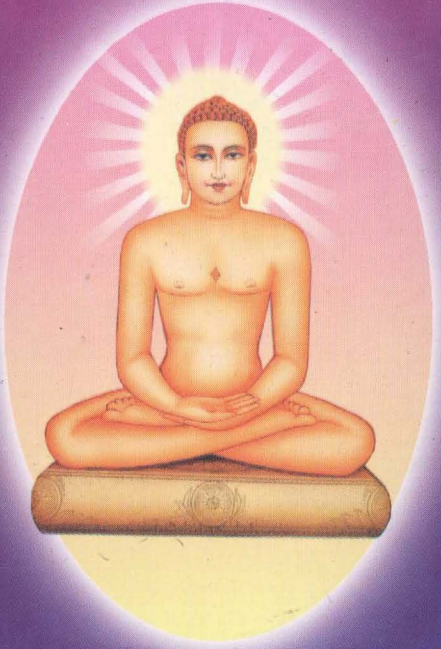
साध्वी हर्षयशा श्रीजी

अनुवादक

साध्वी श्री मोक्षरत्ना श्रीजी

सम्पादक

डॉ. सागरमल जैन

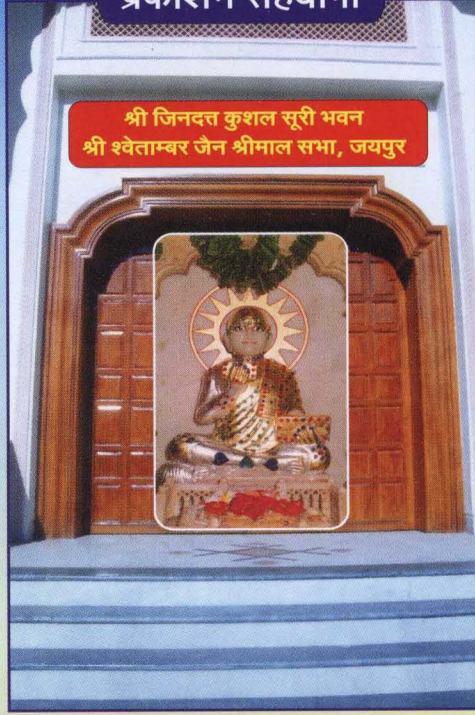


प्रकाशक

प्राच्य विद्यापीठ शाजापुर (म.प्र.)

प्रकाशन सहयोगी

श्री जिनदत्त कुशल सूरी भवन
श्री श्वेताम्बर जैन श्रीमाल सभा, जयपुर



श्री जिनदत्त कुशल सूरी भवन
श्री श्वेताम्बर जैन श्रीमाल सभा, जयपुर

प्राच्य विद्यापीठ ग्रन्थमाला - ६

आचार्य वर्धमानसूरिकृत
आचारदिनकर

द्वितीय खण्ड
जैनमुनि जीवन के विधि-विधान

सम्प्रेरक
साध्वी हर्षयशा श्री जी

अनुवादक
साध्वी श्री मोक्षरत्ना श्री जी

सम्पादक
डॉ. सागरमल जैन

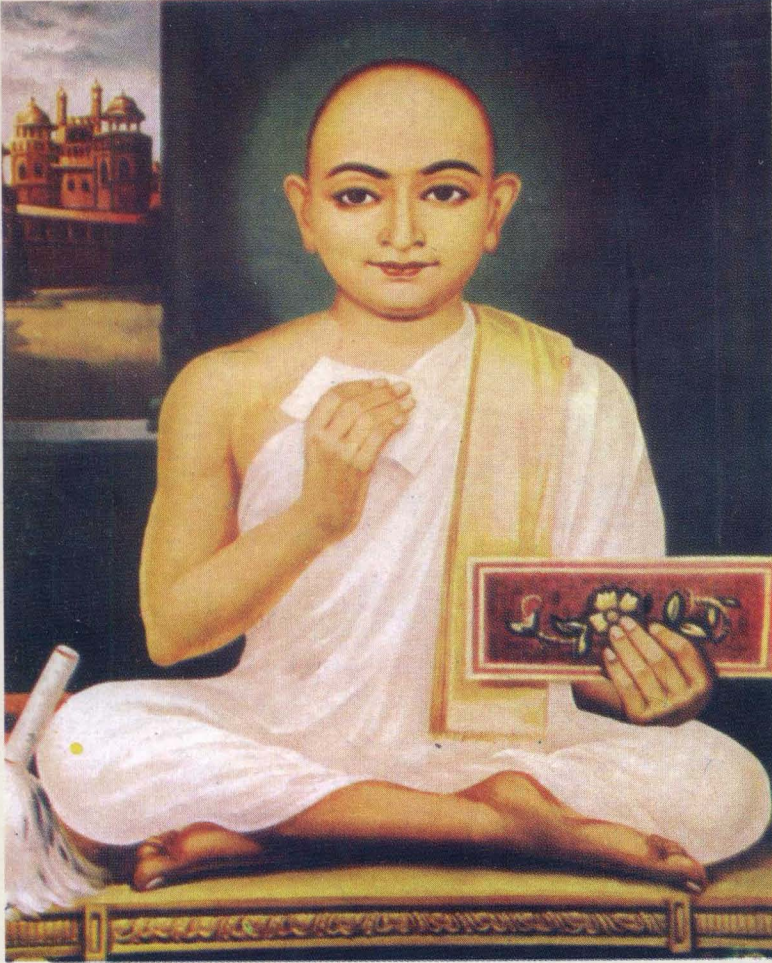
प्रकाशक
प्राच्य विद्यापीठ शाजापुर (म.प्र.)

ग्रन्थ नाम	-	वर्धमानसूरिकृत 'आचारदिनकर' द्वितीय खण्ड जैनमुनि जीवन के विधि-विधान
अनुवादक	-	पूज्या समतामूर्ति श्री विचक्षण श्री जी म.सा. की प्रशिष्या एवं साध्वीवर्या हर्षयशा श्री जी की शिष्या साध्वी मोक्षरत्ना श्री जी
सम्पादक	-	डॉ. सागरमल जैन
प्रकाशक	-	प्राच्य विद्यापीठ, दुपाड़ा रोड़ शाजापुर (म.प्र.)
अर्थ सहयोग	-	श्री श्वेताम्बर जैन श्रीमाल सभा, मोती डूंगरी रोड़, जयपुर
प्राप्ति स्थल	-	(१) डॉ. सागरमल जैन, प्राच्य विद्यापीठ, दुपाड़ा रोड़, शाजापुर (म.प्र.) ४६५००१ (२) सरस्वती पुस्तक भण्डार, हाथीखाना रतनपोल - अहमदाबाद (गुजरात) (३) श्री श्वेताम्बर जैन श्रीमाल सभा, मोती डूंगरी रोड़, जयपुर
प्रकाशन वर्ष	-	प्रथम संस्करण, फरवरी २००६
मूल्य	-	रु. ५०/- पचास रूपया

प्रत्यक्ष प्रभावी दादा गुरुदेव

दीक्षा : वि.सं. 1347 फाल्गुन शुक्ला 8, गढसिवाणा

जन्म : वि.सं. 1337 मार्गशीर्ष कृष्णा 3, गढसिवाणा



आचार्यपद वि.सं. 1377 ज्येष्ठ कृष्णा 11, पाटण

स्वर्गावास : वि.सं. 1389 फाल्गुन कृष्णा 30, देशवर

श्री जिनकुशलसूरीश्वर जी म.सा.

सादर समर्पण



प.पू. समतामूर्ति प्रव. श्री विचक्षण श्री जी म. सा.



प.पू. प्रव. श्री तिलक श्री जी म. सा.

मोक्षपथानुगामिनी, आत्मअध्येता, समतामूर्ति, समन्वय साधिका परम पूज्या प्रवर्तिनी महोदया स्व. श्री विचक्षण श्री जी म.सा. एवं आगम रश्मि परम पूज्या प्रवर्तिनी महोदया स्व. श्री तिलक श्री जी म.सा. आपके अनन्त उपकारों के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करते हुए आचारदिनकर की अनुवादित यह कृति आपके पावन पाद प्रसूनों में समर्पित करते हुए अत्यन्त आत्मिक उल्लास की अनुभूति हो रही हैं। आपकी दिव्यकृपा जिनवाणी की सेवा एवं शासन प्रभावना हेतु सम्बल प्रदान करें - यही अभिलाषा है।

-साध्वी मोक्षरत्ना

जिनके परम पुनीत चरणों में
शत - शत - वन्दन
है

खरतरगच्छाधिपति, शासनप्रभावक, आचार्य भगवन्त
पूज्य श्री जिनमहोदयसागर सूरीश्वरजी म.सा.
शासनप्रभावक गणाधीश उपाध्याय भगवन्त
पूज्य श्री कैलाशसागर जी म.सा.

प्रेरणा स्रोत

जिनशासनप्रभावक, ऋजुमना
परम पूज्य पीयूषसागर जी म.सा.

परोक्ष आशीर्वाद

जैन कोकिला, समतामूर्ति, स्व. प्रवर्तिनी, परम पूज्या गुरुवर्या
श्री विचक्षणश्रीजी म.सा. एवं उनकी सुशिष्या आगम रश्मि
स्व. प.पू. प्रवर्तिनी श्रीतिलकश्री जी म.सा.

प्रत्यक्ष कृपा

सेवाभावी, स्पष्ट वक्ता
परमपूज्या गुरुवर्या श्री हर्षयशाश्रीजी म.सा.

नमन, नमन और नमन
है

पूज्या साध्वी वृन्द के चरणों में
शान्त-स्वभावी पूज्याश्री विनीताश्रीजी म.सा.
सरल-मना पूज्याश्री चन्द्रकलाश्रीजी म.सा.
प्रज्ञा-भारती पूज्याश्री चन्द्रप्रभाश्रीजी म.सा.
शासन-ज्योति पूज्याश्री मनोहरश्रीजी म.सा.
प्रसन्न-वदना पूज्याश्री सुरंजनाश्रीजी म.सा.
महाराष्ट्र-ज्योति पूज्याश्री मंजुलाश्रीजी म.सा.
मरूधर-ज्योति पूज्याश्री मणिप्रभाश्रीजी म.सा.

!! शुभाशीर्वाद !!

साध्वी श्री मोक्षरत्ना श्री जी आचारदिनकर का तीन भागों में अनुवाद कार्य कर रही हैं, यह जानकर प्रसन्नता की अनुभूति हो रही है। उनका यह कार्य वास्तव में सराहनीय है। इससे मूलग्रन्थ के विषयों की बहुत कुछ जानकारी गृहस्थों एवं मुनियों के लिए उपयोगी होगी। जिनशासन और जिनवाणी की सेवा का यह महत्त्वपूर्ण कार्य शीघ्र ही सम्पन्न हो एवं उपयोगी बने, ऐसी मेरी शुभकामना हैं।

गच्छ हितेच्छु
गच्छाधिपति कैलाशसागर

!! किंचित् वक्तव्य !!

जैन संघ में आचारदिनकर यह अनूठा ग्रंथ है। इसमें वर्णित गृहस्थों के विधि-विधान आज क्वचित् ही प्रचलन में है, साधुओं के आचार के कुछ-कुछ अंश अवश्य ही प्रचलन में है।

गृहस्थों के विधि-विधान भारत के किसी कोने में किसी सम्प्रदाय में कोई काल में प्रचलित रहे होंगे, आज प्रायः नहीं है, साथ ही मूल ग्रंथ भी अनेक स्थानों पर अशुद्धियों से भरा हुआ है सो शुद्ध प्रमाणमूल अनुवाद करना अतिदुष्कर है, फिर भी अनुवादिका साध्वीजी ने परिश्रम किया है, यह श्लाघनीय है। आज तक किसी ने इस दिशा में खास प्रयत्न किया नहीं सो इस परिश्रम के लिये साध्वीजी को एवं डॉ. सागरमलजी को धन्यवाद देता हूँ।

आचारदिनकर की कोई शुद्ध प्रति किसी हस्तप्रति के भण्डार में अवश्यक उपलब्ध होगी, उसकी खोज करनी चाहिये और अजैन ग्रंथों में जहाँ संस्कारों का वर्णन है, उसकी तुलना भी की जाये तो बहुत अच्छा होगा। जैन ग्रंथों में भी मूल ग्रंथ की शुद्धि के लिये मूल पाठों को देखना चाहिये।

परिश्रम के लिये पुनः धन्यवाद।

माघशुक्ल अष्टमी, रविवार, सं. २०६२
नंदिग्राम, जिला-वलसाड (गुजरात)

पूज्यपाद गुरुदेव मुनिराज
श्री भुवन विजयान्तेवासी मुनि जंबूविजय

!! अनुशंसनीय एवं अनुमोदनीय अद्भूत कार्य !!

संस्कारों से ही संस्कृति बनती है तथा मनुष्य का आचार एवं व्यवहार अनुशासित होता है। जैनाचार्यों ने सिद्धान्तों का प्रतिपादन इस प्रकार किया है, जिससे व्यक्ति अपने को संयमित कर आत्म विकास कर सके।

आत्मसाधना के मार्ग में जिस प्रकार ज्ञान सहायक है, उसी प्रकार क्रिया भी सहायक है। जैनाचार्यों का कथन है “ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्ष मार्ग” अर्थात् ज्ञान एवं क्रिया इन दोनों से ही मोक्ष होता है। अतः जैन दर्शन में मोक्षमार्ग के पथिक हेतु ज्ञान के साथ क्रिया अर्थात् आचरण को भी परमावश्यक माना गया है। इस तथ्य की महत्ता को अभिव्यक्त करने हेतु हरिभद्रसूरिकृत पंचाशकप्रकरण, पंचवस्तु, पादलिप्ताचार्यकृत निर्वाणकलिका, जिनप्रभसूरिकृत विधिमाग-प्रपा आदि। उन विधि-विधान सम्बन्धी कृतियों में से एक प्रमुख कृति आचारदिनकर भी है। प्रस्तुत कृति जैन परम्परा से सम्बन्धित लगभग सभी विधि-विधानों को प्रस्तुत करती है।

ज्ञान एवं आचार को मुख्यता देने वाली तथा चैत्यवासी परंपरा के विरुद्ध सर्वप्रथम क्रांति का शंखनाद करने वाली खरतरगच्छीय परंपरा की रूद्रपल्ली शाखा के बारहवें पट्टधर श्रीजयानंद सूरि के प्रखर शिष्य श्री वर्धमानसूरि ने वि.सं. १४६८ में जालन्धर अपरनाम नंदनवनपुर (पंजाब) में १२५०० संस्कृत श्लोकों एवं प्राकृत गाथाओं में आचारदिनकर नामक ग्रंथ की रचना की है। जैन धर्म की आचार प्रणाली को सुव्यवस्थित रूप से प्रस्तुत करने में आचारदिनकर का महत्त्वपूर्ण अवदान है।

यह कृति साधकों को विधि-विधान सम्बन्धी न केवल प्रचुर सामग्री ही प्रदान करती है, वरन् स्पष्ट विवरण भी प्रस्तुत करती है। विधि-विधान सम्बन्धी यह कृति जैन साहित्य में अद्वितीय है, किन्तु भाषा की एवं विषय की दुरूहता के कारण यह कृति जनसामान्य के ज्ञान का विषय नहीं बन पाई। ऐसे ग्रंथों का अनुवाद कार्य सरल नहीं होता है। जैन विधि-विधानों का स्पष्ट बोध, संस्कृत-प्राकृत भाषा व्याकरण आदि शास्त्रीय संज्ञाओं का सम्यक् परिचय एवं

परिश्रमशीलता आदि के माध्यम से ही ऐसे विशालकाय ग्रंथ का अनुवाद करना संभव हो सकता है।

तार्किक मनीषी, प्रज्ञापुरुष डॉ. सागरमलजी के दिशा-निर्देश में साध्वी मोक्षरत्ना श्रीजी ने इस ग्रंथ का हिन्दी अनुवाद कर वास्तव में बहुत ही प्रशंसनीय कार्य किया है।

निश्चित रूप से श्रुतोपासिका साध्वीवर्या मोक्षरत्ना श्रीजी का यह प्रयत्न स्तुत्य एवं अनुमोदनीय है। आपका यह प्रयत्न रत्नत्रय की साधना को परम विशुद्ध बनाए एवं जन हितार्थ बने ऐसी शुभ भावना है।

नागपुर, २१ फरवरी २००६

जिनमहोदयसागरसूरि चरणरज
मुनि पीयूषसागर

!! आत्मीय स्फुरणा !!

मुझे उस समय अत्यन्त हर्ष की अनुभूति हुई जब विदुषी साध्वी हर्षयशा श्रीजी म.सा. ने लिखा कि साध्वी मोक्षरत्ना श्रीजी ने आचारदिनकर का अनुवाद कर लिया है। यह महत् कार्य अभी तक कोई भी नहीं कर पाया था, उसे साध्वी मोक्षरत्ना श्रीजी ने पूर्ण कर दिया है।

साध्वी जी का यह कार्य जनोपयोगी है। यह पुस्तक व्यक्ति, परिवार, समाज, देश, राष्ट्र और विश्व के लिए उपयोगी बने तथा इस पुस्तक में संगृहीत विचार चिरकाल तक जनमानस को प्रेरणा प्रदान करते रहे - यही शुभ भावना है। मेरी शुभकामना है कि मोक्षरत्ना श्रीजी भविष्य में भी साहित्य सेवा करती हुई निरंतर उँचाईयों के शिखर की ओर अग्रसर होती रहे और जिनशासन एवं गुरु का नाम उज्ज्वल करे।

प.पू.प्र. महोदया स्व. श्री विचक्षण श्रीजी म.सा. की सुशिष्या हर्षयशा श्रीजी की अन्तेवासिनी मोक्षरत्ना श्रीजी की जिज्ञासा, लगन एवं निष्ठा को देखते हुए मैं हार्दिक आशीर्वाद प्रदान करती हूँ कि विचक्षण वाटिका की यह कली अहर्निश जिनशासन में अभिवृद्धि करे एवं समाज उपयोगी पुस्तकों का सर्जन करती रहें। यही हार्दिक शुभभावना

श्री विचक्षणपाद पद्मरेणु
चंद्रकला श्री

!! आशीर्वाद की अक्षुण्ण धारा !!

इस जगत में अनेक भव्य आत्माएँ जिनेश्वर देव के शासन में जन्म लेकर उच्चतम साधना बल से स्वस्वरूप को प्राप्त करती हैं। यह पूर्व संस्कारों का परिणाम है, जिससे उन्हें सद्गुरु समागम अनुकूल सामग्री व सत्शास्त्र-अध्ययन का सुसंयोग मिलता है।

संस्कारवान् व्यक्ति कभी भी किसी प्रकार का अनुचित कदम नहीं उठाता, कदाचित् संकटकाल में संक्लेशवश गलत कार्य में उद्यत हो जाए, परन्तु पाप भीरु होने से अथवा अपने उत्तम कुल व जाति का विचार आने पर पूर्व संस्कारों के कारण अनुचित कार्यों से विरत हो जाता है। वास्तव में सुसंस्कार जन्म-जन्मान्तर की जगमगाती ज्योति है। पूर्ववर्ती आचार्यों एवं 'आचारदिनकर' के रचयिता वर्धमानसूरि का हम पर अनंत उपकार है, जो हमें कुसंस्कारों से बचाया है और सुसंस्कारों का मार्ग दिखाया। प्रस्तुत ग्रन्थ में गृहस्थ एवं मुनिजीवन के संस्कारों का स्वरूप दर्शाया गया है, इस प्रकार यह मानवीय संस्कारों का एक संरक्षक ग्रंथ है।

ख्यातिलब्ध डॉ. सागरमल जी के पावन निर्देशन में साध्वी श्री मोक्षरत्ना श्री जी ने अपने भागीरथ प्रयास से विशालकाय ग्रंथ 'आचारदिनकर' का हिन्दी अनुवाद किया है। सुसंस्कारों का यह ग्रंथ साधु-साध्वी एवं श्रावक-श्राविकाओं की साधना में अति उपयोगी है।

शासन देव एवं गुरुदेव से प्रार्थना है कि साध्वी श्री का ज्ञान वैभव उच्च शिखर पर पहुँचकर जिनशासन एवं गच्छ को अलंकृत करे। गुरुवर्याओं के आशीर्वाद की अक्षुण्ण धारा उन्हें सिंचित करती रहे -

गुरु विचक्षण विनेया - विनीता श्री

!! आशीर्वचन...अभिनन्दन...अनुमोदन !!

गौरव की प्रतीक जैनसंस्कृति के संस्कारों को वर्णित एवं संरक्षित करने में जिन व्यक्तियों का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से योगदान रहा, उन सबको मैं शिरसा प्रणाम करती हूँ। जैन धर्म मूलतः एक निवृत्तिप्रधान धर्म है। इसके दो महत्त्वपूर्ण सोपान हैं - सागारधर्म तथा अनागारधर्म। धर्म जन्म-जन्मांतरों से उपजे अविद्या जनित संस्कारों के प्रभाव से मुक्ति प्राप्त नहीं कर पाना मानव की एक सबसे बड़ी समस्या है। इसके लिए मनुष्य के समक्ष अपने जीवन का प्रयोजन स्पष्ट होना चाहिए, साथ ही उस प्रयोजन की सिद्धि के लिए प्रयत्न भी होना चाहिए। पुरुषार्थ की सफलता के लिए आचार-विचार एवं व्यवहार के परिष्कारित होने की आवश्यकता है। इसमें संस्कारों का महत्त्वपूर्ण योगदान होता है। संस्कार शब्द का अभिप्राय धार्मिक क्रियाओं तथा व्यक्ति के दैहिक, मानसिक और बौद्धिक व्यापार के परिष्कार के लिए किये जाने वाले अनुष्ठानों से है। जिनसे सुसंस्कृत होकर व्यक्ति समाज का पूर्ण विकसित सदस्य हो सके।

शास्त्रों में सागार तथा अनागार धर्म की आचार संहिता को अत्यन्त मनोवैज्ञानिक ढंग से प्रस्तुत किया गया है। अनागारधर्म अर्थात् मुनिवृत्ति के लिए गृहस्थ जीवन के प्रति राग एवं मोह के त्याग के साथ-साथ सांसारिक प्रपंचों के प्रति उदासीन होना आवश्यक है। आशय यह है कि प्रव्रज्या ग्रहण करने से पूर्व सांसारिक विरक्ति का होना नितान्त महत्त्वपूर्ण है। प्रव्रज्या ग्रहण करने के उपरान्त ही मुनिवृत्ति या साधुजीवन का प्रारम्भ होता है। मुनिवृत्ति हेतु सद्-संस्कारों का होना आवश्यक है। संस्कार वह धार्मिक अनुष्ठान है, जो व्यक्ति को योग्य बनाता है, उसके जीवन को सार्थक करता है, गुणों का आधान करता है, दोषों को दूर करता है तथा जो शरीर के साथ-साथ आत्मा को भी उन्नत करता है। इस प्रकार संस्कार का अर्थ व्यक्ति के बाह्य परिष्कार के साथ-साथ आभ्यन्तर परिष्कार करना भी है।

संस्कारों पर आधारित आचारदिनकर में १२५०० श्लोक संस्कृत एवं प्राकृत भाषा में निबद्ध है। जिसमें गृहस्थ एवं साधु के

१६-१६ संस्कारों का विधिपूर्वक विशुद्ध विवेचन है। आज जनसामान्य के अध्ययनार्थ, ज्ञानार्थ एवं संस्कारों की क्रियान्विति हेतु इस ग्रन्थ के श्लोकों के हिन्दी रूपान्तरण की महती आवश्यकता थी। जिसे जैन कोकिला, व्याख्यान भारती, समतामूर्ति परमपूज्या गुरुवर्या श्री प्रवर्तिनी स्व. श्री विचक्षण श्री जी म.सा. की सुयोग्यसुशिष्या साध्वीजी श्री हर्षयशा श्री जी म.सा. की सुशिष्या विदुषी साध्वीजी श्री मोक्षरत्ना श्री जी ने पूर्ण किया है। इस पुनीत कार्य को अपने समक्ष देखकर मैं अन्तर्मन के उद्गार एवं प्रसन्नता को अक्षरशः प्रकट भी नहीं कर पा रही हूँ।

मोक्ष मार्ग के सोपान की ओर अग्रसर करने वाले मुनि धर्म से सम्बद्ध १६ संस्कार यथा - ब्रह्मचर्य व्रत ग्रहण, क्षुल्लक दीक्षाविधि, प्रव्रज्या विधि, उपस्थापना विधि, योगोद्धवहन विधि, वाचना ग्रहण विधि, अन्तिम संलेखन विधि आदि संस्कारों के विधि-विधानों के हिन्दी रूपान्तरण से सम्बद्ध यह ग्रन्थ सभी के लिए उपयोगी सिद्ध होगा। साध्वी श्री मोक्षरत्ना जी का यह भगीरथ प्रयास स्तुत्य एवं अनुमोदनीय है। एतदर्थ उनको साधुवाद। वह जिनशासन की निष्काम भाव से सेवा करते हुए श्रेष्ठ साधुचर्या के साथ वीणापाणि माँ सरस्वती के चरण कमलों की उपासिका बनी रहे, अन्तःस्थ के इन्हीं शुभ भावों के साथ।

शुभाशीर्वाद सह
विचक्षण ज्योति
चन्द्रप्रभा श्री

!! मंगल आशीर्वाद !!

साहित्य समाज का दर्पण होता है। जिस प्रकार दर्पण में देखकर हम अपना संस्कार कर सकते हैं, ठीक उसी प्रकार साहित्य भी जन मानस को संस्कारित करने में सक्षम होता है। भौतिकता की चकाचौंध में भ्रमित पथिकों को आत्मविकास का मार्ग दिखाता है। साध्वी मोक्षरत्ना श्री जी ने कठिन परिश्रम करके आचारदिनकर का अनुवाद करके और उस पर शोधग्रन्थ लिखकर जिनशासन का गौरव बढ़ाया है।

विषय का तलस्पर्शी एवं सूक्ष्म ज्ञानार्जन करने के लिए लक्ष्य का निर्धारण करना आवश्यक होता है। अध्ययनशील बने रहने में श्रम एवं कठिनाइयों का सामना करना ही पड़ता है। श्रमण पर्याय तो श्रम से परिपूर्ण हैं। साध्वी जी ने अथक् प्रयास करके जैन साहित्य की सेवा का यह बहुत ही सराहनीय कार्य किया है।

अन्तःकरण से हम उन्हें यही मंगल आशीर्वाद देते हैं कि भविष्य में इसी प्रकार संयम साधना के साथ-साथ साहित्य साधना करती रहे।

विचक्षण पद रेणू
मनोहर श्री
मुक्तिप्रभा श्री

!! उर्मि अन्तर की !!

जैन धर्म विराट है। इसके सिद्धान्त भी अति व्यापक और लोक हितकारी है। ऐसे ही सिद्धान्त ग्रन्थ आचारदिनकर के हिन्दी अनुवाद का अब प्रकाशन हो रहा है, यह जानकर अतीव प्रसन्नता की अनुभूति हो रही है।

प्रज्ञा निधान महापुरुषों के द्वारा अपनी साधना से ज्ञान सामग्री ग्रन्थों के रूप में ग्रंथित हुई है। ज्ञान आत्मानुभूति का विषय है, उसे शब्दों के माध्यम से अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता। किन्तु अथाह ज्ञान सागर में से ज्ञानीजन बूंद-बूंद का संग्रह कर उसे ज्ञान पिपासुओं के समक्ष ग्रन्थ रूप में प्रस्तुत करते हैं। यह अति सराहनीय कार्य है।

साध्वी मोक्षरत्ना श्री जी ने अपने अध्ययन काल के बीच इस अननुदित रचना को प्राकृत एवं संस्कृत से हिन्दी भाषा में अनुवादित कर न केवल इसे सरल, सुगम एवं सर्वउपयोगी बनाया अपितु गृहस्थ एवं मुनियों के लिये विशिष्ट जानकारी का एक विलक्षण, अनुपम, अमूल्य उपहार तैयार किया है।

अन्तरमन की गहराई से शुभकामना के साथ मेरा आशीर्वाद है कि साध्वी मोक्षरत्ना श्री जी इसी प्रकार अपनी ज्ञानप्रतिभा को उजागर करते हुए तथा जिनशासन की सेवा में लीन रहते हुए, साहित्य भण्डार में अभिवृद्धि करें। यही शुभाशीष है।

विशेष ज्ञानदाता डॉ. सागरमल जी साहब का इस ग्रंथ अनुवाद में पूर्ण सहयोग रहा, बहुत-बहुत साधुवाद है।

श्री विचक्षण चरणोपासिका
सुरंजनाश्री, सिणधरी - २००६

!! हार्दिक कामना !!

आचारदिनकर नामक यह कृति गृहस्थ एवं मुनि जीवन के विधि-विधानों की मूल्यात्मकता को नवीन दृष्टिकोण से देखने को प्रेरित करती हैं। यह जिनाज्ञा के प्रति हमारी श्रद्धा में अभिवृद्धि करती हैं और जीवन में धार्मिक विधि-विधानों को अपनाने का संदेश भी प्रदान करती हैं। इसके माध्यम से विधि-विधानों का मर्म स्पष्ट होता है, जो परमार्थ के लिए पुरुषार्थ जगाने में और हमारी आत्मोन्नति का द्वार खोलने में सक्षम हैं।

अध्ययनशीला साध्वीवर्या श्री मोक्षरत्ना श्री जी ने आचारदिनकर जैसे विशाल ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद करने का जो दुष्कर कार्य किया है, वह निश्चय ही अनुमोदनीय है। अल्प समय में यह महत् कार्य करके उन्होंने अपनी कार्यदक्षता का परिचय दिया है। आपका यह कार्य पूर्ववर्ती जैन आचार्यों के ग्रन्थरत्नों की ज्ञानरश्मि को चतुर्दिक फैलाने में समर्थ हो - ऐसा मेरा मंगल आशीर्वाद है।

यह ग्रन्थ मंजुषा भव्यात्माओं के मंजुल भावों को जागृत करने वाली बने यही मंगल कामना।

विचक्षण शिशु
तिलक चरणरज
मंजुला श्री

!! सादर समर्पण !!

गृहस्थ जीवन में श्रद्धा, विनय, विवेक और क्रिया आवश्यक है। जीवन को सार्थक करने के लिये श्रावक ओर श्राविकाओं को संस्कारों के द्वारा अपने आपको सुसंस्कारित करना चाहिए।

पूर्व भव में उपार्जित कुछ संस्कार व्यक्ति साथ में लाता है और कुछ संस्कार इस भव में संगति एवं शिक्षा के द्वारा उपार्जन करता है। अतः गर्भ में आने के साथ ही बालक में विशुद्ध संस्कार उत्पन्न हो इसलिए कुछ संस्कार विधियाँ की जाती है। प्रस्तुत पुस्तक में जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त तक के गृहस्थ के सोलह संस्कारों का विवेचन है। मूल ग्रन्थ वर्धमानसूरिकृत आचारदिनकर है। साध्वी मोक्षरत्ना श्री ने इसका सुन्दर और सुबोध भाषा में अनुवाद किया है।

आचारदिनकर ग्रन्थ के प्रणेता खरतर गच्छ के आचार्य वर्धमानसूरि जी ने गृहस्थ एवं साधु जीवन को सुघड़ बनाने के लिये इस ग्रन्थ को मूल दो भागों में विभाजित किया है। प्रथम भाग में गृहस्थ एवं साधु जीवन के सोलह-सोलह संस्कारों का उल्लेख है तथा दूसरे भाग में गृहस्थ एवं साधु दोनों के द्वारा किये जाने वाले आठ संस्कारों का उल्लेख किया है। जैसे प्रतिष्ठा-विधि, प्रायश्चित्त-विधि, आवश्यक-विधि आदि। यह संपूर्ण ग्रंथ बारह हजार पाँच सौ श्लोको में निबद्ध है।

आचारदिनकर ग्रंथ का अभी तक सम्पूर्ण अनुवाद हुआ ही नहीं है। यह पहली बार अनुवादित रूप में प्रकाशित होने जा रहा है। जन हितार्थ साध्वी जी ने जो अथक पुरुषार्थ किया है, वह वास्तव में प्रशंसनीय है।

विशेष रूप से मैं जब भी पूज्य श्री पीयूषसागर जी म.सा. से मिलती तब वे एक ही बात कहते कि मोक्षरत्नाश्री जी को अच्छी तरह पढ़ाओ ताकि जिन शासन की अच्छी सेवा कर सके उनकी सतत् प्रेरणा ही साध्वी जी के इस महत् कार्य में सहायक रही है।

इसके साथ ही कर्मठ, सेवाभावी, जिनशासन के अनुरागी, प्राणी मित्र कुमारपाल भाई वी. शाह एवं बड़ौदा निवासी, समाज सेवक, गच्छ के प्रति सदैव समर्पित, अध्ययन हेतु निरंतर सहयोगी नरेशभाई शांतिलाल पारख, आप दोनों का यह निर्देश रहा कि म.सा. पढ़ाई करना हो तो आप शाजापुर डॉ. सागरमल जी जैन सा. के सान्निध्य में इनका अध्ययन कराए।

शाजापुर आने के बाद डॉ. सागरमलजी जैन सा. ने एक ही प्रश्न किया, म.सा. समय लेकर आए हो कि बस उपाधि प्राप्त करनी है। हमने कहाँ कि हम तो सबको छोड़कर आपकी निश्चा में आए है। आप जैसा निर्देश करेंगे, वही करेंगे। उन्होंने साध्वी मोक्षरत्ना श्री जी को जो सहयोग एवं मार्गदर्शन दिया है, वह स्तुत्य है। यदि उन्होंने आचारदिनकर के अनुवाद करने का कार्य हमारे हाथ में नहीं दिया होता तो शायद यह रत्न ग्रन्थ आप लोगो के समक्ष नहीं होता। इस सम्बन्ध में अधिक क्या कहें - यह महान् कार्य उनके एवं साध्वी जी के अथक श्रम का परिणाम है।

इस अवसर पर पूज्य गुरुवर्याओ श्री समतामूर्ति प.पू. विचक्षण श्री जी म.सा. एवं आगम रश्मि प.पू. तिलक श्री जी म.सा. की याद आए बिना नहीं रहती। यदि आज वे होते तो इस कार्य को देखकर अतिप्रसन्न होते। उनके गुणों को लिखने में मेरी लेखनी समर्थ नहीं है। विश्व के उदयांचल पर विराट् व्यक्तित्व संपन्न दिव्यात्माएँ कभी-कभी ही उदित होती हैं। किन्तु उनके ज्ञान और चारित्र्य का भव्य प्रकाश चारों दिशाओं को आलोकित करता रहता है। आप गुरुवर्याओ का संपूर्ण जीवन ही त्याग, तप एवं संयम की सौरभ से ओत-प्रोत था, जैसे पानी की प्रत्येक बूंद प्यास बुझाने में सक्षम है, वैसे ही आप गुरुवर्याओ श्री के जीवन का एक एक क्षण अज्ञानान्धकार में भटकने वाले समाज के लिए प्रकाश पुंज है। वे मेरे जीवन की शिल्पी रही हैं।

ऐसी महान् गुरुवर्याओं का पार्थिव शरीर आज हमारे बीच नहीं है, परन्तु अपनी ज्ञान ज्योति के द्वारा वे आज भी हमें आलोकित कर रही हैं।

उन ज्ञान-पुंज चारित्र्य-आत्माओं के चरणों में भावभरी हार्दिक श्रद्धांजली के साथ-साथ यह कृति भी सादर समर्पित है।

**विचक्षण चरणरज
हर्षयशाश्री**

!! कृतज्ञता ज्ञापन !!

भारतीय संस्कृति संस्कार प्रधान है, संस्कारों से ही संस्कृति बनती है। प्राचीन काल से ही भारत अपनी समृद्ध संस्कृति के लिए वैश्व पूज्य रहा है। भारत की इस सांस्कृतिक धारा को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए भारतीय विद्वानों ने समय-समय पर अनेक ग्रंथों की रचना कर अपनी संस्कृति का पोषण किया है। संस्कार सम्बन्धी वेधि-विधानों से युक्त वर्धमानसूरि कृत 'आचारदिनकर' भी एक ऐसी ही महत्वपूर्ण कृति है, जिसमें भारतीय सांस्कृतिक चेतना को पुष्ट करने वाले चालीस विधि-विधानों का विवेचन मिलता है। इसमें मात्र ग्राह्य विधि-विधानों की ही चर्चा नहीं है, वरन् आत्म विशुद्धि करने वाले धार्मिक एवं आध्यात्मिक विधि-विधानों का भी समावेश ग्रंथकार ने किया है। वर्तमान परिप्रेक्ष्य में इस ग्रन्थ की प्रासंगिकता को देखते हुए मैंने इस ग्रंथ का भावानुवाद सुबोध हिन्दी भाषा में करने का एक प्रयास किया है।

मेरा अनुवाद कैसा है ? यह तो सुज्ञ पाठक ही निर्णय करेंगे। मैंने अपने हिन्दी अनुवाद को मूलग्रन्थ के भावों के आस-पास ही रखने का प्रयत्न किया है। विधि-विधान सम्बन्धी ग्रन्थ के अनुवाद का यह मेरा प्रथम प्रयास है। मूल मुद्रित प्रति में अनेक अशुद्ध पाठ होने के कारण तथा मेरे अज्ञानवश अनुवाद में त्रुटियाँ रहना स्वाभाविक है। यह भी सम्भव है कि ग्रंथकार की भावना के विरुद्ध अनुवाद में कुछ लेखा गया हो, उस सब के लिए मैं विद्वत् वर्ग से करबद्ध क्षमा गचना करती हूँ।

प्रज्ञा मनीषी प.पू. जम्बूविजयजी म.सा. एवं विद्वत्वर्य प.पू. शोविजयजी म.सा. ने योगोद्धहन विधि का विशेष रूप से अवलोकन कर उसके सुधार हेतु सुझाव दिए। एतदर्थ उनके प्रति मैं अन्तःकरण से आभार अभिव्यक्त करती हूँ।

इस पुनीत कार्य में उपकारियों के उपकार को कैसे भूला जा सकता है। इस ग्रन्थ के अनुवाद में प्रत्यक्षतः परिश्रम भले मेरा दिखाई जाता हो, किन्तु उसके पीछे आत्म ज्ञानी, महान् साधिका, समतामूर्ति, रोपकार वत्सला गुरुवर्या श्रीविचक्षण श्रीजी म.सा. के परोक्ष गुणाशीर्वाद तो है ही। इस कार्य में परम श्रद्धेय प्रतिभापुंज, मधुरभाषी

पूज्य श्री पीयूषसागर जी म.सा. की सतत् प्रेरणा मुझे मिलती रही है। उनके प्रेरणाबल की चर्चा कर मैं उनके प्रति अपनी आत्मीय श्रद्धा को कम नहीं करना चाहती हूँ। ग्रंथ प्रकाशन के इन क्षणों में संयम प्रदाता प.पू. हर्षयशाश्रीजी म.सा. का उपकार भी मैं कैसे भूल सकती हूँ, जिनकी भाव वत्सलता से मेरे जीवन का कण-कण आप्लावित है, वे मेरी दीक्षा गुरु ही नहीं वरन् शिक्षा गुरु भी है। अनुवाद के प्रकाशन में उनका जो आत्मीय सहयोग मिला वह मेरे प्रति उनके अनन्य वात्सल्य भाव का साक्षी है। ग्रन्थ प्रकाशन के इन सुखद क्षणों में आगममर्मज्ञ मूर्धन्य पंडित डॉ. सागरमलजी सा. का भी उपकार भूलाना कृतघ्नता ही होगी, उन्होंने हर समय इस अनुवाद कार्य में मेरी समस्याओं का समाधान किया तथा निराशा के क्षणों में मेरे उत्साह का वर्धन किया। अल्प समय में इस गुरुतर ग्रंथ का अनुवाद का कार्य आपके दिशा-निर्देश एवं सहयोग के बिना शायद ही सम्भव हो पाता।

साधु-साध्वियों के अध्ययन, अध्यापन एवं शोध हेतु पूर्ण समर्पित डॉ. सागरमलजी जैन द्वारा स्थापित प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर द्वारा प्रदत्त आवास, निवास और ग्रन्थागार की पूरी सुविधाएँ भी इस कार्य की पूर्णता में सहायक रही है। श्री श्वेताम्बर जैन श्रीमाल सभा, जयपुर के ट्रस्टीगण भी धन्यवाद के पात्र है, जिनके अर्थ सहयोग से ग्रन्थ का प्रकाशन कार्य संभव हो सका है।

अन्त में उन सभी प्रत्यक्ष एवं परोक्ष सहयोगियों के प्रति मैं आभार व्यक्त करती हूँ, जिन्होंने इस कार्य में अपना सहयोग प्रदान किया। भाई अमित ने इसका कम्प्यूटर कम्पोजिंग एवं आकृति आफसेट ने इसका मुद्रण कार्य किया एतदर्थ उन्हें भी साधुवाद।

मुझे विश्वास है, इस अनुवाद में अज्ञानतावश जो अशुद्धियाँ रह गई हैं, उन्हें सुधीजन संशोधित करेंगे।

शाजापुर,

विचक्षण हर्षचरणरज
मोक्षरत्ना श्री

अनुमोदनीय प्रयास

साध्वी श्री मोक्षरत्ना श्रीजी ने आचारदिनकर जैसे कठिन किंतु महत्त्वपूर्ण ग्रंथ का अनुवाद किया है, यह जानकर प्रसन्नता हो रही है। उनके द्वारा प्रेषित प्रथमभाग जो गृहस्थ जीवन के संस्कारों से सम्बन्धित है, उसे देखा। अब उसका दूसरा भाग, जो साधु जीवन के विधि-विधानों से सम्बन्धित है, भी छप रहा है - यह जानकर प्रमोद हो रहा है। जिनशासन की सेवा परमात्मा की सेवा है और ज्ञानाराधना मोक्षमार्ग की साधना का ही अंग है। साध्वी जी के इस पुरुषार्थ से जैन गृहस्थ और साधु-साध्वीगण हमारे पूर्वाचार्यों द्वारा प्रणीत विधि-विधानों से परिचित हो और साधना-आराधना में प्रगति करे, यही शुभ भावना है। साध्वी मोक्षरत्ना श्रीजी विचक्षण मण्डल की ही सदस्या है, उनकी यह ज्ञानाभिरूचि निरन्तर वृद्धिगत होती रहे, यही शुभ-भावना है।

विचक्षणचरणरेणु
मणिप्रभा श्री

ॐ मंगल कामना

जिनशासन में आचार की प्रधानता है। आचार के अपने विधि-विधान होते हैं। 'आचारदिनकर' ऐसे ही विधि-विधानों का एक ग्रन्थ है। साध्वी श्री मोक्षरत्ना श्रीजी ने डॉ. सागरमलजी जैन के सान्निध्य में शाजापुर जाकर इस ग्रन्थ पर न केवल शोधकार्य किया, अपितु मूलग्रन्थ के अनुवाद का कठिन कार्य भी तीन भागों में पूर्ण किया है। मुझे यह जानकर प्रसन्नता हो रही है कि उन्होंने सम्पूर्ण ग्रंथ का अनुवाद कर लिया है और उसका प्रथम और द्वितीय विभाग प्रकाशित भी हो रहा है। आज श्वेताम्बर मूर्तिपूजक परम्परा में जो विधि-विधान होते हैं, उन पर आचारदिनकर का बहुत अधिक प्रभाव देखा जाता है और इस दृष्टि से इस मूल ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद प्रकाशित होना एक महत्त्वपूर्ण घटना है, क्योंकि इसके माध्यम से हम पूर्व प्रचलित विधि-विधानों से सम्यक् रूप से परिचित हो सकेंगे। इसमें गृहस्थधर्म के षोडश-संस्कारों के साथ-साथ मुनि जीवन के विधि-विधानों का उल्लेख तो है ही साथ ही इसमें प्रतिष्ठा आदि सम्बन्धी विधि-विधान भी हैं, जो जैन धर्म के क्रियाकाण्ड के अनिवार्य अंग हैं।

ऐसे महत्त्वपूर्ण ग्रंथ के हिन्दी अनुवाद के लिए साध्वी जी द्वारा किए गए श्रम की अनुमोदना करता हूँ और यह अपेक्षा करता हूँ कि वे सतत् रूप से जिनवाणी की सेवा एवं ज्ञानाराधना में लगी रहे। यही मंगल कामना

कुमारपाल वी.
शाह
कलिकुण्ड, धोलका

!! हृदयोद्गार !!

आचारदिनकर जैन संस्कारों के विधि-विधानों का एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। पन्द्रहवीं शती का यह ग्रन्थ गृहस्थ के षोडश संस्कारों के साथ-साथ मुनिजीवन से सम्बन्धित विधि-विधानों का एक सन्दर्भ ग्रन्थ है। यह समग्र ग्रन्थ मूलतः संस्कृत एवं प्राकृत भाषा में ही निबद्ध था। हिन्दी या गुजराती भाषा में अनुवादित था ही नहीं। विदुषी साध्वी श्री मोक्षरत्ना श्री जी ने अपने भागीरथ प्रयत्न के द्वारा इस ग्रन्थ का सफलतापूर्वक अनुवाद कार्य संपन्न किया और इस पुस्तक के द्वितीय भाग के प्रकाशन हेतु अर्थ सहयोग करने का जो हमारी सभा को लाभ दिया, इसके लिए हम उनके आभारी हैं।

इतनी अल्पवय एवं अल्पसमय में इस विशालकाय ग्रन्थ का अनुवाद कर वास्तव में उन्होंने न केवल जैन साहित्य को एक अनुपम भेंट ही प्रदान की है, वरन् हमारे श्रीमाल वंश को भी गौरवान्वित किया है। पुनः साध्वी श्री के अथक परिश्रम की हम भूरि-भूरि अनुमोदना करते हैं।

इस ग्रन्थ के अनुवाद के प्रेरक प्रज्ञा-प्रदीप, प्रतिभा सम्पन्न डॉ. सागरमलजी सा. भी अनुमोदना के पात्र हैं। उनके सफल दिशा-निर्देश के परिणामस्वरूप ही आज यह कृति हमारे समक्ष है। इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ के अनुवाद के संपादन एवं संशोधन कार्य में उन्होंने अपनी पूर्ण विद्वता तथा लगन से योगदान दिया है। उनके प्रति शाब्दिक धन्यवाद प्रकट करना, उनके श्रम एवं सहयोग का सम्यक् मूल्यांकन नहीं होगा।

श्रमण समुदाय के लिए विशेष उपयोगी आचारदिनकर के द्वितीय भाग का प्रकाशन प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर से हो रहा है। आशा है, जैन साहित्य प्रकाशन के क्षेत्र में संस्था की ग्रन्थ प्रकाशन की यह परम्परा अक्षुण्ण बनी रहे, इसी मंगल कामना के साथ

ट्रस्ट मंडल

श्री श्वेताम्बर जैन श्रीमाल सभा
मोती डूंगरी रोड, जयपुर

!! भूमिका !!

किसी भी धर्म या साधना पद्धति के दो पक्ष होते हैं - १. विचार पक्ष और २. आचार पक्ष। जैन धर्म भी एक साधना पद्धति है। अतः उसमें भी इन दोनों पक्षों का समायोजन पाया जाता है। जैन धर्म मूलतः भारतीय श्रमण परम्परा का धर्म है। भारतीय श्रमण परंपरा अध्यात्मपरक रही हैं और यही कारण हैं कि उसने प्रारम्भ में वैदिक कर्मकाण्डीय परम्परा की आलोचना भी की थी, किन्तु कालान्तर में वैदिक परम्परा के कर्मकाण्डों का प्रभाव उस पर भी आया। यद्यपि प्राचीन काल में जो जैन आगम ग्रन्थ निर्मित हुए, उनमें आध्यात्मिक और नैतिक शिक्षाएँ ही प्रधान रही हैं, किन्तु कालान्तर में जो जैन ग्रन्थ निर्मित हुए उनमें वैदिक परम्परा के प्रभाव से कर्मकाण्ड का प्रवेश भी हुआ। पहले गौण रूप में और फिर प्रकट रूप में कर्मकाण्ड परक ग्रन्थ जैन परम्परा में भी लिखे गए। भारतीय वैदिक परम्परा में यज्ञ-याग आदि के साथ-साथ गृही जीवन के संस्कारों का भी अपना स्थान रहा है और प्रत्येक संस्कार के लिए यज्ञ-याग एवं तत्सम्बन्धी कर्मकाण्ड एवं उसके मंत्र भी प्रचलित रहे हैं। मेरी यह सुस्पष्ट अवधारणा है, कि जैन परम्परा में षोडश संस्कारों का और उनके विधि-विधान का जो प्रवेश हुआ है, वह मूलतः हिन्दू परम्परा के प्रभाव से ही आया है। यद्यपि परम्परागत अवधारणा यही है, कि गृहस्थों के षोडश संस्कार और उनके विधि-विधान भगवान् ऋषभदेव के द्वारा प्रवर्तित किए गए थे। आचारदिनकर में भी वर्धमानसूरि ने इसी परम्परागत मान्यता का उल्लेख किया है। जहाँ तक जैन आगमों का प्रश्न है, उसमें कथापरक आगमों में गर्भाधान संस्कार का तो कोई उल्लेख नहीं है, किन्तु उनमें तीर्थंकरों के जीव के गर्भ में प्रवेश के समय माता द्वारा स्वप्न दर्शन के उल्लेख मिलते हैं। इसके अतिरिक्त जातकर्म संस्कार, सूर्य-चन्द्र दर्शन संस्कार, षष्ठी संस्कार, नामकरण संस्कार, विद्याध्ययन संस्कार आदि कुछ संस्कारों के उल्लेख भी उनमें

मिलते हैं, किन्तु वहाँ तत्सम्बन्धी विधि-विधानों का उल्लेख नहीं मिलता है। फिर भी इससे इतना तो सिद्ध होता है कि उस काल में जैन परम्परा में भी संस्कार सम्बन्धी कुछ विधान किए जाते थे। यद्यपि मेरी अवधारणा यही है कि जैन समाज के बृहद् हिन्दू समाज का ही एक अंग होने के कारण जन सामान्य में प्रचलित जो संस्कार आदि की सामाजिक क्रियाएँ थी, वे जैनों द्वारा भी मान्य थी। किन्तु ये संस्कार जैन धर्म की निवृत्तिपरक साधना विधि का अंग रहे होंगे, यह कहना कठिन है।

जहाँ तक संस्कार सम्बन्धी स्वतंत्र ग्रंथों की रचना का प्रश्न है, वे आगमिकव्याख्याकाल के पश्चात् निर्मित होने लगे थे। किन्तु उन ग्रंथों में भी गृहस्थ जीवन सम्बन्धी षोडश संस्कारों का कोई उल्लेख हमें नहीं मिलता है। मात्र दिगम्बर परम्परा में भी जो पुराणग्रन्थ हैं, उनमें इन संस्कारों के विधि-विधान के मात्र संसूचनात्मक कुछ निर्देश ही मिलते हैं। श्वेताम्बर परम्परा में आचार्य हरिभद्र (लगभग आठवीं शती) के ग्रन्थ जैसे अष्टकप्रकरण, पंचाशक प्रकरण, पंचवस्तु आदि में भी विधि-विधान सम्बन्धी कुछ उल्लेख तो मिलते हैं, किन्तु उनमें जो विधि-विधान सम्बन्धी उल्लेख हैं वे प्रथमतः तो अत्यन्त संक्षिप्त हैं और दूसरे उनमें या तो जिनपूजा, जिनभवन निर्माण, जिनयात्रा, मुनिदीक्षा आदि से सम्बन्धित ही कुछ विधि-विधान मिलते हैं या फिर मुनि आचार सम्बन्धी कुछ विधि-विधानों का उल्लेख उनमें हुआ है। गृहस्थ के षोडश संस्कारों का सुव्यवस्थित विवरण हमें आचार्य हरिभद्र के ग्रंथों में भी देखने को नहीं मिलता है। आचार्य हरिभद्र के पश्चात् नवमी शताब्दी से लेकर बारहवीं शताब्दी तक मुनि आचार सम्बन्धी अनेक ग्रंथों की रचना हुई। जैसे - पादलिप्तसूरिकृत निर्वाणकलिका, जिनवल्लभसूरि विरचित संघपट्टक, चन्द्रसूरि की सुबोधासमाचारी, तिलकाचार्यकृत समाचारी, हेमचन्द्राचार्य का योगशास्त्र, समयसुन्दर का समाचारीशतक आदि कुछ ग्रन्थ हैं। किन्तु ये सभी ग्रन्थ भी साधना परक और मुनिजीवन से सम्बन्धित आचार-विचार का ही उल्लेख

करते है। तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी से विधि-विधान सम्बन्धी जिन ग्रन्थों की रचना हुई उसमें 'विधिमार्गप्रपा' को एक प्रमुख ग्रन्थ के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। किन्तु इस में भी जो विधि-विधान वर्णित है, उनका सम्बन्ध मुख्यतः मुनि आचार से ही है या फिर किसी सीमा तक जिनभवन, जिनप्रतिमा, प्रतिष्ठा आदि से सम्बन्धित उल्लेख है। इसी प्रकार दिगम्बर परम्परा में पं. आशाधर के सागरधर्मामृत एवं अणगारधर्मामृत में तथा प्रतिष्ठाकल्प में कुछ विधि-विधानों का उल्लेख हुआ है। सागरधर्मामृत में गृहस्थ जीवन से सम्बन्धित कुछ विधि-विधान चर्चित अवश्य हैं, किन्तु उसमें भी गर्भाधान, पुंसवन, जातकर्म, षष्ठीपूजा, अन्नप्राशन, कर्णवेध आदि का कोई विशेष उल्लेख नहीं मिलता है। गृहस्थ जीवन, मुनिजीवन और सामान्य विधि-विधान से सम्बन्धित मेरी जानकारी में यदि कोई प्रथम ग्रन्थ है तो वह वर्धमानसूरीकृत आचारदिनकर (वि.सं. १४६८) ही है।

ग्रन्थ के रचियता और रचनाकाल -

जहाँ तक इस ग्रन्थ के रचियता एवं रचना काल का प्रश्न है, इस ग्रन्थ की प्रशस्ति में स्पष्ट रूप से यह उल्लेख किया गया है कि वि.स. १४६८ में जालंधर नगर (पंजाब) में इस ग्रन्थ की रचना हुई। ग्रन्थ प्रशस्ति से यह भी स्पष्ट होता है कि यह ग्रन्थ अभयदेवसूरि के शिष्य वर्धमानसूरि द्वारा रचित है। अभयदेवसूरि और वर्धमानसूरि जैसे प्रसिद्ध नामों को देखकर सामान्यतया: चन्द्रकुल के वर्धमानसूरि, नवांगीटीकाकार अभयदेवसूरि का स्मरण हो आता है, किन्तु आचारदिनकर के कर्ता वर्धमानसूरि इनसे भिन्न हैं। अपनी सम्पूर्ण वंश परम्परा का उल्लेख करते हुए उन्होंने अपने को खरतरगच्छ की रूद्रपल्ली शाखा के अभयदेवसूरी (तृतीय) का शिष्य बताया है। ग्रन्थ प्रशस्ति में उन्होंने जो अपनी गुरु परम्परा सूचित की है, वह इस प्रकार है :-

आचार्य हरिभद्र
 देवचन्द्रसूरि
 नेमीचन्द्रसूरि
 उद्योतनसूरि
 वर्धमानसूरि
 जिनेश्वरसूरि
 अभयदेवसूरि (प्रथम)
 जिनवल्लभसूरि

इसके पश्चात् जिनवल्लभ के शिष्य जिनशेखर से रूद्रपल्ली शाखा की स्थापना को बताते हुए, उसकी आचार्य परम्परा निम्न प्रकार से दी है :-

जिनशेखरसूरि
 पद्मचंद्रसूरि
 विजयचंद्रसूरि
 अभयदेवसूरि (द्वितीय) (१२वीं से १३वीं शती)
 देवभद्रसूरि
 प्रभानंदसूरि (वि.सं. १३११)
 श्रीचंद्रसूरि (वि.सं. १३२७)
 जिनभद्रसूरि
 जगततिलकसूरि
 गुणचन्द्रसूरि (१४१५-२१)
 अभयदेवसूरि (तृतीय)
 जयानंदसूरि
 वर्धमानसूरि (१५वीं शती)

प्रस्तुत कृति में वर्धमानसूरि ने जो अपनी गुरु परम्परा दी है, उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वे खरतरगच्छ की रूद्रपल्ली शाखा से सम्बन्धित थे। ज्ञातव्य हैं कि जिनवल्लभसूरि के गुरु भ्राता जिनशेखरसूरि ने जिनदत्तसूरि द्वारा जिनचंद्रसूरि को अपने पट्ट पर स्थापित करने से रूष्ट होकर उनसे पृथक् हो गए और उन्होंने रूद्रपल्ली शाखा की स्थापना की। ऐसा लगता है कि जहाँ जिनदत्तसूरि की परम्परा ने उत्तर-पश्चिम भारत को अपना प्रभाव क्षेत्र बनाया, वही जिनशेखर सूरि ने पूर्वोत्तर क्षेत्र को अपना प्रभाव क्षेत्र बनाकर विचरण किया। रूद्रपल्ली शाखा का उद्भव लखनऊ और अयोध्या के मध्यवर्ती रूद्रपल्ली नामके नगर में हुआ और इसीलिए इसका नाम रूद्रपल्ली शाखा पड़ा। वर्तमान में भी यह स्थान रूदौली के नाम से प्रसिद्ध है - इस शाखा का प्रभाव क्षेत्र पश्चिमी उत्तरप्रदेश, हरियाणा और पंजाब तक रहा। प्रस्तुत आचारदिनकर की प्रशस्ति से भी यह स्पष्ट हो जाता है कि इस ग्रन्थ की रचना पंजाब के जालंधर नगर के नंदनवन में हुई, जो रूद्रपल्ली शाखा का प्रभाव क्षेत्र रहा होगा। यह स्पष्ट है कि रूद्रपल्ली स्वतंत्र गच्छ न होकर खरतरगच्छ का ही एक विभाग था। साहित्यिक दृष्टि से रूद्रपल्ली शाखा के आचार्यों द्वारा अनेक ग्रंथों की रचना हुई। अभयदेवसूरि (द्वितीय) द्वारा जयन्तविजय महाकाव्य वि.स. १२७८ में रचा गया। अभयदेवसूरि (द्वितीय) के पट्टधर देवभद्रसूरि के शिष्य तिलकसूरि ने गौतमपृच्छावृत्ति की रचना की है। उनके पश्चात् प्रभानंदसूरि ने ऋषभपंचाशिकावृत्ति और वीतरागवृत्ति की रचना की। इसी क्रम में आगे संघतिलकसूरि हुए जिन्होंने सम्यक्त्वसप्ततिटीका, वर्धमानविद्याकल्प, षट्दर्शनसमुच्चयवृत्ति की रचना की। इनके द्वारा रचित ग्रंथों में वीरकल्प, कुमारपालचरित्र, शीलतरंगिनीवृत्ति, कन्यानयनमहावीरप्रतिमाकल्प (प्रदीप) आदि कृतियाँ भी मिलती हैं। कन्यानयनमहावीरप्रतिमाकल्प की रचना से भी यह स्पष्ट हो जाता है, कि इस शाखा का प्रभाव क्षेत्र पश्चिमी उत्तरप्रदेश था, क्योंकि यह कल्प वर्तमान कन्नौज के भगवान महावीर के

जिनालय के सम्बन्ध में लिखा गया है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि वर्धमानसूरि जिस रूद्रपल्ली शाखा में हुए वह शाखा विद्वत मुनिजनों और आचार्यों से समृद्ध रही हैं और यही कारण हैं कि उन्होंने आचारदिनकर जैसे विधि-विधान सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ की रचना की। आचारदिनकर के अध्ययन से यह भी स्पष्ट होता है कि उस पर श्वेताम्बर परम्परा के साथ ही दिगम्बर परम्परा का भी प्रभाव रहा है। यह स्पष्ट है कि पश्चिमी उत्तरप्रदेश और उससे लगे हुए बुन्देलखण्ड तथा पूर्वी हरियाणा में दिगम्बर परम्परा का भी प्रभाव था। अतः यह स्वाभाविक था कि आचारदिनकर पर दिगम्बर परम्परा का भी प्रभाव आये। स्वयं वर्धमानसूरि ने भी यह स्वीकार किया है, कि मैंने दिगम्बर एवं श्वेताम्बर परम्परा के ग्रन्थों तथा उनमें प्रचलित इन विधानों की जीवित परम्परा को देखकर ही इस ग्रंथ की रचना की है। ग्रन्थ प्रशस्तियों के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि रूद्रपल्ली शाखा लगभग बारहवीं शताब्दी में अस्तित्व में आई और उन्नीसवीं शताब्दी तक अस्तित्व में बनी रही। यद्यपि यह सत्य है कि सोलहवीं शती के पश्चात् इस शाखा में कोई प्रभावशाली विद्वान आचार्य नहीं हुआ, किन्तु यति परम्परा और उसके पश्चात् कुलगुरु (मथेण) के रूप में यह शाखा लगभग उन्नीसवीं शताब्दी तक जीवित रही।

ग्रन्थकार वर्धमानसूरि का परिचय -

जहाँ तक प्रस्तुत कृति के रचियता वर्धमानसूरि का प्रश्न है, उनके गृही जीवन के सम्बन्ध में हमें न तो इस ग्रन्थ की प्रशस्ति से और न किसी अन्य साधन से कोई सूचना प्राप्त होती है। केवल इतना ही कहा जा सकता है कि इनका जन्म रूद्रपल्ली शाखा के प्रभाव क्षेत्र में ही कही हुआ होगा। जालन्धर (पंजाब) में ग्रन्थ रचना करने से भी यह स्पष्ट हो जाता है कि इनका विचरण और स्थिरता का क्षेत्र पंजाब और हरियाणा रहा होगा। इनके गुरु अभयदेवसूरि (तृतीय) द्वारा फाल्गुन सुद तीज, शुक्रवार वि.स. १४३२ में अंजनशलाका की हुई शान्तिनाथ भगवान की धातु की प्रतिमा,

आदिनाथ जिनालय पूना में उपलब्ध हैं। इससे यह सुनिश्चित है कि वर्धमानसूरि विक्रम की पन्द्रहवीं शताब्दी में हुए। इनके गुरु अभयदेवसूरि द्वारा दीक्षित होने के सम्बन्ध में भी किसी प्रकार की कोई शंका नहीं की जा सकती। किन्तु इनकी दीक्षा कब और कहाँ हुई इस सम्बन्ध में अधिक कुछ कहना सम्भव नहीं है।

ग्रंथकर्ता और उसकी परम्परा की इस चर्चा के पश्चात् हम ग्रंथ के सम्बन्ध में कुछ विचार करेंगे।

ग्रन्थ की विषयवस्तु -

वर्धमानसूरिकृत आचारदिनकर नामक यह ग्रंथ संस्कृत एवं प्राकृत भाषा में रचित है। भाषा की दृष्टि से इसकी संस्कृत भाषा अधिक प्रांजल नहीं है और न अलंकार आदि के घटाटोप से क्लिष्ट है। ग्रन्थ सामान्यतया: सरल संस्कृत में ही रचित है। यद्यपि जहाँ-जहाँ आगम और प्राचीन आचार्यों के ग्रंथों के प्रमाण प्रस्तुत करने का प्रश्न उपस्थित हुआ है, वहाँ-वहाँ इसमें प्राकृत पद्य और गद्य अवतरित भी किए गए हैं। कहीं कहीं तो यह भी देखने में आया है कि प्राकृत का पूरा का पूरा ग्रन्थ ही अवतरित कर दिया गया है, जैसे प्रायश्चित्त विधान के सम्बन्ध में जीतकल्प, श्राद्धजीतकल्प आदि ग्रन्थ उद्धृत हुए। ग्रन्थ की जो प्रति प्रथमतः प्रकाशित हुई है, उसमें संस्कृत भाषा सम्बन्धी अनेक अशुद्धियाँ देखने में आती हैं - इन अशुद्धियों के कारण का यदि हम विचार करें तो दो संभावनाएँ प्रतीत होती हैं - प्रथमतः यह हो सकता है कि जिस हस्तप्रत के आधार पर यह ग्रन्थ छपाया गया हो वहीं अशुद्ध रही हो, दूसरे यह भी सम्भावना हो सकती है कि प्रस्तुत ग्रंथ का पुफ रीडिंग सम्यक् प्रकार से नहीं किया गया हो। चूँकि इस ग्रंथ का अन्य कोई संस्करण भी प्रकाशित नहीं हुआ है और न कोई हस्तप्रत ही सहज उपलब्ध है - ऐसी स्थिति में पूज्या साध्वी जी ने इस अशुद्ध प्रत के आधार पर ही यह अनुवाद करने का प्रयत्न किया है, अतः अनुवाद में यत्र-तत्र स्वलन की कुछ सम्भावनाएँ हो सकती हैं। क्योंकि अशुद्ध पाठों के आधार पर सम्यक्

अर्थ का निर्धारण करना एक कठिन कार्य होता है। फिर भी इस दिशा में जो यह प्रयत्न हुआ है, वह सराहनीय ही कहा जाएगा।

यद्यपि जैन परम्परा में विधि-विधान से सम्बन्धित अनेक ग्रंथों की रचना हुई है। आचार्य हरिभद्रसूरि के पंचवस्तु प्रकरण से लेकर आचारदिनकर तक विधि-विधान सम्बन्धी ग्रंथों की समृद्ध परम्परा रही है, किन्तु आचारदिनकर के पूर्व जो विधि-विधान सम्बन्धी ग्रंथ लिखे गए उन ग्रंथों में दो ही पक्ष प्रबल रहे - १. मुनि आचार सम्बन्धी ग्रंथ और २. पूजापाठ एवं प्रतिष्ठा सम्बन्धी ग्रंथ। निर्वाणकलिका, विधिमार्गप्रपा, समाचारी, सुबोधासमाचारी आदि ग्रंथों में हमें या तो दीक्षा आदि मुनि जीवन से सम्बन्धित विधि-विधान का उल्लेख मिलता है या फिर मन्दिर एवं मूर्ति निर्माण, मूर्तिप्रतिष्ठा, मूर्ति पूजा आदि से सम्बन्धित विधि-विधानों का उल्लेख मिलता है। इन पूर्ववर्ती ग्रंथों में श्रावक से सम्बन्धित जो विधि-विधान मिलते हैं, उनमें से मुख्य रूप से सामायिक, पौषध, प्रतिक्रमण एवं उपधान से सम्बन्धित ही विधि-विधान मिलते हैं। सामान्यतः गृहस्थ जीवन से सम्बन्धित संस्कारों के विधि-विधानों का उनमें प्रायः अभाव ही देखा जाता है। यद्यपि आगम युग से ही जन्म, नामकरण आदि सम्बन्धी कुछ क्रियाओं (संस्कारों) के उल्लेख मिलते हैं, किन्तु तत्संबन्धी जैन परम्परा के अनुकूल विधि-विधान क्या थे ? इसकी कोई चर्चा नहीं मिलती है।

दिगम्बर परम्परा के पुराण साहित्य में भी इन संस्कारों के उल्लेख तथा उनके करने सम्बन्धी कुछ निर्देश तो मिलते हैं, किन्तु वहाँ भी एक सुव्यवस्थित समग्र विधि-विधान का प्रायः अभाव ही देखा जाता है। वर्धमानसूरि का आचारदिनकर जैन परम्परा का ऐसा प्रथम ग्रंथ है, जिसमें गृहस्थ के षोडश संस्कारों सम्बन्धी विधि-विधानों का सुस्पष्ट विवेचन हुआ है।

आचारदिनकर नामक यह ग्रंथ चालीस उद्यों में विभाजित है। आचार्य वर्धमानसूरि ने स्वयं ही इन चालीस उद्यों को तीन भागों में वर्गीकृत किया है। प्रथम विभाग में गृहस्थ सम्बन्धी षोडश संस्कारों का

विवेचन हैं, दूसरे विभाग में मुनि जीवन से सम्बन्धित षोडश संस्कारों का विवेचन हैं और अन्तिम तृतीय विभाग के आठ उदयों में गृहस्थ और मुनि दोनों द्वारा सामान्य रूप से आचरणीय आठ विधि-विधानों का उल्लेख हैं। इस ग्रन्थ में वर्णित चालीस विधि-विधानों को निम्न सूची द्वारा जाना जा सकता है :-

(अ) गृहस्थ सम्बन्धी	(ब) मुनि सम्बन्धी	(स) मुनि एवं गृहस्थ सम्बन्धी
१ गर्भाधान संस्कार	१ ब्रह्मचर्यव्रत ग्रहण संस्कार	१ प्रतिष्ठा विधि
२ पुंसवन संस्कार	२ क्षुल्लक विधि	२ शान्तिक-कर्म विधि
३ जातकर्म संस्कार	३ प्रव्रज्या विधि	३ पौष्टिक-कर्म विधि
४ सूर्य-चन्द्र दर्शन संस्कार	४ उपस्थापना विधि	४ बलि विधान
५ क्षीराशन संस्कार	५ योगोद्धहन विधि	५ प्रायश्चित्त विधि
६ षष्ठी संस्कार	६ वाचनाग्रहण विधि	६ आवश्यक विधि
७ शुचि संस्कार	७ वाचनानुज्ञा विधि	७ तप विधि
८ नामकरण संस्कार	८ उपाध्यायपद स्थापना विधि	८ पदारोपण विधि
९ अन्न प्राशन संस्कार	९ आचार्यपद स्थापना विधि	-
१० कर्णवेध संस्कार	१० प्रतिमाउद्धहन विधि	-
११ चूडाकरण संस्कार	११ व्रतिनी व्रतदान विधि	-
१२ उपनयन संस्कार	१२ प्रवर्तिनीपद स्थापना विधि	-
१३ विद्यारम्भ संस्कार	१३ महत्तरापद स्थापना विधि	-
१४ विवाह संस्कार	१४ अहोरात्र चर्या विधि	-
१५ व्रतारोपण संस्कार	१५ ऋतुचर्या विधि	-
१६ अन्त्य संस्कार	१६ अन्तसंलेखना विधि	-

इस प्रकार यह कृति मूलतः तीन विभागों में विभाजित है। प्रथम विभाग में गृहस्थ जीवन के षोडश संस्कारों का विवेचन है। इस विभाग का अनुवाद पूर्ण होकर छप चुका है और उसकी भूमिका में मैंने गृहस्थ जीवन के षोडश संस्कारों का भारतीय परम्परा में क्या स्थान रहा है और वे किस प्रकार जैन परम्परा में गृहीत हुए तथा

उन पर हिन्दू परम्परा का कितना प्रभाव है, इसका विस्तृत तुलनात्मक विवेचन भी प्रस्तुत किया गया है।

इस द्वितीय खंड में मुख्यतः जैन मुनिजीवन के विधि-विधानों का उल्लेख है। इस विभाग के अन्तर्गत ब्रह्मचर्यव्रतग्रहणविधि, क्षुल्लक-प्रव्रज्याविधि, मुनि प्रव्रज्याविधि, उपस्थापनाविधि (बड़ी दीक्षा की विधि), योगोद्धहन विधि, वाचनाग्रहण विधि, वाचनानुज्ञा विधि, उपाध्याय पदस्थापना विधि, आचार्य पदस्थापना विधि, मुनियों की बारह प्रतिमाओं की आराधना विधि, साध्वी दीक्षा विधि, प्रवर्तिनी पदस्थापना विधि, महत्तरा पदस्थापना विधि, मुनि की सामान्य दिनचर्या विधि, ऋतुचर्या विधि एवं संलेखना विधि - इन षोडश विधियों का विवेचन किया गया है। इस विवेचन से एक तो यह बात स्पष्ट होती है कि वर्धमानसूरि ने आचारदिनकर में मुनि जीवन में प्रवेश के पूर्व ब्रह्मचर्य व्रतग्रहण विधि को और क्षुल्लक दीक्षा विधि को भी स्थान दिया है, जिनका श्वेताम्बर परम्परा में वर्तमान में प्रायः अभाव देखा जाता है, किन्तु ये दोनों विधियाँ दिगम्बर परम्परा में आज भी प्रचलित है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वे एक ओर मुनि जीवन में प्रवेश करने के पूर्व एक प्रशिक्षु के रूप में प्रथम ब्रह्मचर्य की साधना को और फिर क्षुल्लक के रूप में मुनिवत् जीवन जीने के अभ्यास को आवश्यक मानते थे। मुनिजीवन में भी ब्रह्मचर्य की साधना सबसे कठिन मानी गई है, आगमों में उसे दुष्कर कहा गया है। अतः वर्धमानसूरि की यह मान्यता रही होगी कि व्यक्ति मुनि जीवन में प्रवेश करने के पूर्व कम से कम तीन वर्ष तक ब्रह्मचर्य का पूर्णतः पालन करे। पंचमहाव्रतों में ब्रह्मचर्य महाव्रत को अतिदुष्कर माना गया है। अतः इस अवस्था में गृह त्याग कर साधक गृहस्थ जीवन के सामान्य व्रतों का पालन करते हुए मुनि जीवन के सबसे महत्त्वपूर्ण महाव्रत ब्रह्मचर्य का भी सम्यक् रूप से पालन करे। इसके पश्चात् क्षुल्लक दीक्षा का क्रम आता है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि जो साधक कम से कम तीन वर्ष तक सम्पूर्ण रूप से ब्रह्मचर्य का पालन कर

लेता है, उसे ही वर्धमानसूरि ने क्षुल्लक दीक्षा का अधिकारी माना हैं। क्षुल्लक दीक्षा में भी यद्यपि वह सामायिक चारित्र के साथ-साथ पंचमहाव्रतों का पालन करता है, किन्तु वर्धमानसूरि ने यहाँ मुनिदीक्षा में गृहीत महाव्रतों की अपेक्षा क्षुल्लक दीक्षा में गृहीत महाव्रतों में अन्तर किया है। उनके अनुसार क्षुल्लक दीक्षा में सामायिक चारित्र और महाव्रतों का ग्रहण दो करण एवं तीन योग से होता है, जबकि मुनिजीवन में उसका ग्रहण तीन करण और तीन योग से होता है, इस प्रकार वह महाव्रतों का ग्रहण सीमित रूप में ही करता है। वह स्वतः हिंसादि करने एवं अपने हेतु करवाने का त्याग करता है, किन्तु उनके अनुमोदन का त्याग नहीं करता है। इसी आधार पर सम्भवतः यह माना गया है कि उसे गृहस्थों के कुछ संस्कार एवं प्रतिष्ठा आदि सम्बन्धी विधि-विधान करवाने का अधिकार हैं। जहाँ सामान्य रूप से वर्तमान में मुनिदीक्षा और उपस्थापना दोनों में विशेष प्रतीक्षा-काल नहीं होता है, वहाँ वर्धमानसूरि ने तीन वर्ष तक ब्रह्मचर्य व्रत के पालन और तीन वर्ष तक क्षुल्लक अर्थात् प्रशिक्षु के रूप में मुनिजीवन के अभ्यास को आवश्यक माना है। इस प्रकार आचारदिनकर में वे मुनिजीवन के प्रवेश के पूर्व साधक को छः वर्ष की अवधि एक प्रशिक्षु के रूप में व्यतीत करने का निर्देश देते हैं। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है, वर्धमानसूरि आचारदिनकर में यह व्यवस्था देते हैं कि यदि साधक इस काल में अपने को मुनिजीवन जीने में असमर्थ मानता है तो वह गृहवास में जा सकता है। जबकि दिगम्बर परम्परा में यह माना गया है कि ब्रह्मचर्य प्रतिमा और क्षुल्लक दीक्षा आजीवन के लिए होती है, उससे वापस गृहस्थ जीवन में जाया नहीं जा सकता है। आचारदिनकर में ब्रह्मचर्य व्रतग्रहण विधि और क्षुल्लक दीक्षाविधि के बाद, प्रव्रज्या विधि एवं उपस्थापना विधि का विवेचन किया गया है। ये दोनों विधियाँ कुछ सामान्य अन्तर को छोड़कर आज भी श्वेताम्बर मूर्तिपूजक परम्परा में उसी रूप में प्रचलित है। प्रस्तुत कृति में जहाँ क्षुल्लक दीक्षा में दो करण तीन योग से महाव्रतों की प्रतिज्ञा करवाई

जाती हैं, वहाँ प्रव्रज्या विधि में महाव्रतों की प्रतिज्ञा न करवाकर मात्र तीन योग एवं तीन करण से मात्र सामायिक चारित्र का ग्रहण करवाया जाता है। वर्धमानसूरि ने मुनि प्रव्रज्या विधि में महाव्रतों के ग्रहण का कोई उल्लेख नहीं किया है। मात्र आजीवन सामायिक व्रत का ही उल्लेख किया है। तीन करण एवं तीन योग से महाव्रतों का आरोपण उपस्थापना विधि में ही किया जाता है। वर्धमानसूरि द्वारा उल्लेखित प्रव्रज्या विधि में जहाँ स्थविरकल्पी मुनिदीक्षा का विधान है, वही जिनकल्पी मुनिदीक्षा का विधान भी है। मेरी दृष्टि में वर्धमानसूरि द्वारा क्षुल्लक दीक्षा विधि और जिनकल्पी दीक्षा विधि का उल्लेख करना इस बात का सूचक है कि वे अपने इस ग्रंथ को श्वेताम्बर परम्परा तक सीमित न रखकर सम्पूर्ण जैन समाज के लिए विधि-विधान का एक आधारभूत ग्रन्थ बनाना चाहते थे।

दूसरी उनकी यह भी विशेषता है कि उन्होंने योगोद्धहन, वाचनाग्रहण एवं वाचनानुज्ञा - इन तीन विधियों का अलग-अलग उल्लेख किया है। यद्यपि ये तीनों विधियाँ वर्तमान में अपने क्रम में एक ही साथ सम्पन्न की जाती हैं। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि योगोद्धहन का मुख्य उद्देश्य आगमों का अध्ययन करना ही होता है और इस दृष्टि से योगोद्धहन में वाचनाग्रहण भी होता है और वाचना देने की अनुज्ञा भी दी जाती है। इन तीनों विधियों में कालग्रहण और संघट्टा का विशेष रूप से उल्लेख हुआ। कालग्रहण का तात्पर्य स्वाध्याय हेतु निर्धारित समय, स्वाध्याय सम्बन्धी पूर्व व्यवस्था एवं स्वाध्यायकाल का निर्धारण करना है। इसी प्रकार संघट्ट का तात्पर्य किन वस्तुओं का स्पर्श करना और किनका नहीं करना तथा स्पर्शनीय कैसे स्पर्श करना आदि है। प्रस्तुत कृति में जो वाचनानुज्ञा की स्वतंत्रविधि दी गई है, उसका मूल कारण यह है कि इस विधि के माध्यम से मुनि को आगमों के अध्यापन का अधिकार प्रदान किया जाए। इसलिए इस पद के धारक व्यक्ति को वाचनाचार्य भी कहा गया है। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि वाचनाचार्य उपाध्याय एवं आचार्य पद से निम्न स्थानीय

हैं। वस्तुतः मुनिसंघ में दो प्रकार के दायित्व होते हैं (१) शिष्यों के अध्ययन-अध्यापन का दायित्व और (२) संघीय अनुशासन एवं प्रशासन सम्बन्धी दायित्व। यही कारण है कि जैन मुनिसंघ में आचार्य और उपाध्याय - ऐसे दो अलग-अलग पदों की व्यवस्था की गई है। जिसका उल्लेख वर्धमानसूरि ने उपाध्याय एवं आचार्य पदस्थापना विधि में किया है। किन्तु इन दोनों पदों के पूर्व वाचनाचार्य और गणी का पद दिया जाता है। प्रस्तुत ग्रंथ में वाचनानुज्ञा विधि में ही गणानुज्ञा विधि का उल्लेख भी हुआ है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि आचार्य के नीचे जो मुनि संघ का प्रशासकीय अधिकारी होता है, उसे गणी कहा जाता है और उस पद को प्राप्त करने हेतु गणानुज्ञाविधि सम्पन्न की जाती है। जबकि उपाध्याय पद के नीचे जो अध्यापन कार्य का दायित्व निर्वाह करता है, उसे वाचनाचार्य कहा जाता है और उसके लिए वाचनानुज्ञा की विधि की जाती है। वाचनानुज्ञा का तात्पर्य अध्यापन-कार्य करने की अनुमति से है। जो मुनि वाचनानुज्ञा की विधि को सम्पन्न कर अपने अध्यापन के दायित्व को सम्यक् प्रकार से निर्वाह करता है, उसे कालक्रम में उपाध्याय पद प्रदान किया जाता है और जो मुनि गणानुज्ञा प्राप्त करके अपने दायित्व का सम्यक् प्रकार से निर्वाह करता है, उसे कालान्तर में आचार्य पद प्रदान किया जा सकता है। वर्धमानसूरि ने प्रस्तुत कृति में इन दोनों पदों पर स्थापन की विधि का भी उल्लेख किया है।

तत्पश्चात् प्रस्तुत कृति में मुनिजीवन की बारह प्रतिमाओं का वहन किस प्रकार से किया जाना चाहिए, तत्सम्बन्धी विधि-विधान प्रस्तुत किए गए हैं। भिक्षु प्रतिमाओं की उद्वहन विधि के पश्चात् प्रस्तुत कृति में साध्वी दीक्षा विधि, प्रवर्तिनी पदस्थापना एवं महत्तरा पदस्थापना विधि - इन तीन विधियों का उल्लेख हुआ है। ये तीनों विधियाँ मूलतः श्रमणी से सम्बन्धित हैं। जिस प्रकार श्रमण संघ में उपाध्याय एवं आचार्य के पद होते हैं, उसी प्रकार श्रमणी संघ में भी प्रवर्तिनी और महत्तरा - इन दो पदों का उल्लेख वर्धमानसूरि ने किया

है। साथ ही उन्होंने यह भी प्रतिपादित किया है कि महत्तरा पदस्थापना विधि और आचार्य पदस्थापन विधि में मूलतः क्या अन्तर होता है। आचार्य चतुर्विधसंघ का अधिनायक होता है, जबकि महत्तरा मात्र श्रमणी संघ की अधिनायिका होती है। साथ ही यह बताया है कि आचार्य द्वारा साध्वी वर्ग के उच्च पदों पर अधिष्ठित प्रवर्तिनी और महत्तरा की भी मुनिसंघ द्वारा वंदन विधि नहीं की जाती है। इस प्रकार वर्धमानसूरि ने श्रमणी संघ की स्वतंत्र व्यवस्था को स्वीकार करके ही साध्वी संघ को मुनि संघ के अधीन ही रखा गया है।

इसके पश्चात् प्रस्तुत कृति में श्रमण एवं श्रमणी संघ की सामान्य दिनचर्या एवं ऋतुचर्या का विधान हुआ है। इसमें मुख्य रूप से मुनियों और साध्वियों को दिन और रात्रि में कौन-कौनसी विधियाँ करनी चाहिए और अपने आचार में किस प्रकार से सावधानी रखना चाहिए - इसका उल्लेख किया गया है। ऋतुचर्या में छहों ऋतुओं में प्रत्येक ऋतुओं में किस प्रकार का आचरण करना चाहिए - इसका विस्तृत विवेचन किया गया है, साथ ही विहार और एक स्थान पर स्थिरता आदि के सम्बन्ध में भी विवेचन किया गया है। अन्त में मुनिजीवन से सम्बन्धित अन्तिम विधि के रूप में संलेखना ग्रहण करने की विधि दी गई है। इसमें संलेखना ग्रहण करने के काल आदि तथा मृत्यु की सन्निकटता जानने के उपाय भी बताए गए हैं। संलेखना सम्बन्धी जो विधि-विधान अन्य ग्रंथों में पाए जाते हैं, लगभग उन्हीं सब विषयों की चर्चा इस ग्रन्थ में भी हुई है। किन्तु विशेषता यह है कि इसमें मुनि के मृत शरीर की अन्तिम विधि किस प्रकार करनी चाहिए - इसका भी उल्लेख हुआ है। यहाँ वर्धमानसूरि ने प्राचीन आगमिक विधि और उस युग में प्रचलित विधि का समन्वय करने का प्रयत्न किया है।

प्राचीन विधि जो मूलतः निशीथ चूर्ण आदि एवं समाधिमरण सम्बन्धी श्वेताम्बर परम्परा के आराधनापताका आदि और दिगम्बर परम्परा के भगवतीआराधना आदि ग्रंथों में मिलती है, उसका उल्लेख

करते हुए अन्त में उन्होंने यह बताया है कि श्रावकों को मुनि संघ द्वारा विसर्जित मुनि की मृत देह का अग्नि संस्कार करना चाहिए। ज्ञातव्य है कि प्राचीन ग्रन्थों में मुनि की मृतदेह के अग्नि संस्कार का उल्लेख नहीं मिलता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रस्तुत कृति में प्राचीन परम्परा का अनुसरण करते हुए उन्हें लोक प्रचलित मान्यताओं के साथ समन्वित करने का प्रयत्न किया है। इसके पश्चात् अन्तिम तृतीय खण्ड में वर्धमानसूरि ने प्रतिष्ठा विधि, शान्तिक कर्म, पौष्टिक कर्म, बलि विधान - इन चार विधियों का उल्लेख किया है, जो मूलतः कर्मकाण्ड परक है, इसके अतिरिक्त प्रायश्चित्त विधि, षडावश्यक विधि और तप विधि - ये तीन विधियाँ श्रावक एवं मुनिजीवन की साधना सम्बन्धित है। अन्त में पदारोपण विधि का उल्लेख हुआ है। यह विधि वस्तुतः सामाजिक जीवन और राज्य प्रशासन पदों पर आरोपण की विधि को प्रस्तुत करती है। इस विधि की यह विशेषता भी है कि इस विधि में राज्य-हस्ती, राज्य-अश्व के पदारोपण का भी उल्लेख हुआ है। इससे ज्ञात होता है कि उस काल में कुछ राजा, मन्त्री आदि जैन होते थे, जिनके लिए इन विधियों का वर्णन किया गया।

इस प्रकार इस वर्ग में मुख्यतः आठ विधियों का उल्लेख हुआ है। इन विधियों का विस्तृत अनुवाद अग्रिम तृतीय खण्ड में प्रकाशित होगा, उस समय ही तृतीय खण्ड की भूमिका में हम इस पर विस्तार से चर्चा करेंगे। अभी द्वितीय भाग में मात्र नाम निर्देश करके ही विराम ले रहे हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि वर्धमानसूरि ने एक व्यापक दृष्टि को समक्ष रखकर जैन परम्परा और तत्कालीन समाज व्यवस्था में प्रचलित विविध विधि-विधानों का इस ग्रन्थ में विधिवत् और व्यवस्थित विवेचन प्रस्तुत किया है। जैन धर्म में उनसे पूर्ववर्ती कुछ आचार्यों ने साधु जीवन से सम्बन्धित विधि-विधानों का एवं जिनबिंब की प्रतिष्ठा से सम्बन्धित विधि-विधान पर तो ग्रन्थ लिखे थे, किन्तु सामाजिक

जीवन से सम्बन्धित संस्कारों के विधि-विधानों पर इतना अधिक व्यापक और प्रामाणिक ग्रन्थ लिखने का प्रयत्न सम्भवतः वर्धमानसूरि ने ही किया है। वस्तुतः जहाँ तक मेरी जानकारी है। समग्र जैन परम्परा में विधि-विधानों को लेकर आचारदिनकर ही एक ऐसा आकर ग्रन्थ है, जो व्यापक दृष्टि से एवं तत्कालीन सामाजिक परिप्रेक्ष्य को ध्यान में रखकर विधि-विधानों का उल्लेख करता है।

आचारदिनकर विक्रमसंवत् १४६८ तदनुसार ई. सन् १४१२ में रचित है। यह ग्रन्थ मूलतः संस्कृत एवं प्राकृत भाषा में होने के कारण आधुनिक युग में न तो विद्वत ग्राह्य था और न जनग्राह्य। यद्यपि यह ग्रन्थ अपने मूल स्वरूप में प्रकाशित भी हुआ, किन्तु अनुवाद के अभाव में लोकप्रिय नहीं बन सका। दूसरे ग्रन्थ की भाषा संस्कृत एवं प्राकृत होने के कारण तथा उनमें प्रतिपादित विषयों के दुरूह होने के कारण इस सम्पूर्ण ग्रन्थ का हिन्दी या गुजराती में आज तक कोई अनुवाद नहीं हो सका था। ग्रन्थ के प्रथम खण्ड का पुरानी हिन्दी में रूपान्तरण का एक प्रयत्न तो अवश्यक हुआ, जो जैनतत्त्वप्रसाद में छपा भी था, किन्तु समग्र ग्रन्थ अनुदित होकर आज तक प्रकाश में नहीं आ पाया। साध्वी मोक्षरत्ना श्रीजी ने ऐसे दुरूह और विशालकाय ग्रन्थ का हिन्दी भाषा में रूपान्तरण का जो महत्त्वपूर्ण कार्य किया है, उसके लिए वे निश्चित ही बधाई की पात्र है। इस ग्रन्थ के अनुवाद के लिए न केवल भाषाओं के ज्ञान की ही अपेक्षा थी, अपितु उसके साथ-साथ ज्योतिष एवं परम्परा के ज्ञान की भी अपेक्षा थी। साथ ही हमारे सामने एक कठिनाई यह भी थी कि जो मूलग्रन्थ प्रकाशित हुआ था, वह इतना अशुद्ध छपा था कि अर्थ बोध में अनेकशः कठिनाईयाँ उपस्थिति होती रही, अनेक बार साध्वी जी और मैं उन समस्याओं के निराकरण में निराश भी हुए फिर भी इस ग्रन्थ के दो खण्ड पूर्ण होकर प्रकाशित हो रहे हैं - यह संतोष का विषय है। ग्रन्थ तीन खण्डों में प्रकाशित करने की योजना है। इसके प्रथम एवं द्वितीय खण्ड विद्वानों और पाठकों के समक्ष प्रस्तुत है। तीसरे खण्ड का

अनुवाद भी पूर्ण हो चुका है। इस द्वितीय विभाग के कुछ अंश स्पष्टीकरण या परिमार्जन हेतु पूज्य मुनि प्रवर जम्बूविजयजी और मुनि श्रीयशोविजय जी को भेजे गये थे और उनके सुझाव के अनुसार उनका संशोधन भी किया गया है, किन्तु मूलप्रति की अशुद्धता तथा अनेक विधि-विधानों के प्रचलन में न होने से उन स्थलों का यथासंभव अपनी सम्झ के अनुसार भावानुवाद ही करने का प्रयत्न किया गया है।

पूज्या साध्वी मोक्षरत्नाश्रीजी इसी प्रकार आगे भी जिनवाणी के अध्ययन, अनुशीलन और प्रकाशन में रुचि लेती रहें, यही अपेक्षा है। विद्वत्तजन जिस कार्य को चाहकर भी अभी तक सम्पन्न नहीं कर पाये थे। उसे मेरे सहयोग से एक अल्प दीक्षापर्याय की युवा साध्वी ने अथक परिश्रम कर पूर्ण किया यह मेरे लिए भी आत्मतोष का विषय है। वस्तुतः मैंने उन्हें शोधकार्य हेतु इस ग्रन्थ का नाम सुझाया था, किन्तु अनुवाद के बिना यह कार्य शक्य नहीं हो रहा था। हमने अनुवाद की प्राप्ति के प्रयास भी किये, किन्तु वे सार्थक नहीं हो सके। अतः प्रथमतः अनुवाद की योजना बनाई गई, प्रस्तुत कृति उसी की फलश्रुति है। विद्वत्त्वर्ग द्वारा इसके समुचित मूल्यांकन की अपेक्षा है, ताकि साध्वी जी का उत्साह वर्धन हो।

दिनांक :- १५-०२-२००६

प्रो. सागरमल जैन
संस्थापक निदेशक
प्राच्य विद्यापीठ,
दुपाड़ा रोड़, शाजापुर (म.प्र.)

!! विषय अनुक्रमणिका !!

उदय - क्रम	पृष्ठ संख्या
१७. ब्रह्मचर्यव्रत ग्रहण विधि	१ - ४
१८. क्षुल्लकत्व विधि	५ - ७
१९. प्रव्रज्या विधि	८ - २०
२०. उपस्थापना विधि	२१ - २७
२१. योगोद्धहन विधि	२८ - १२२
२२. वाचनाग्रहण की विधि	१२३ - १२४
२३. वाचनानुज्ञा विधि	१२५ - १२७
२४. उपाध्याय पदस्थापन विधि	१२८ - १२८
२५. आचार्य पदस्थापन विधि	१२९ - १३७
२६. मुनि की बारह प्रतिमाओं की उद्धहन विधि	१३८ - १४१
२७. साध्वी को व्रत प्रदान करने की विधि (दीक्षा विधि)	१४२ - १४२
२८. प्रवर्तिनी पदस्थापना विधि	१४३ - १४५
२९. महत्तरा पदस्थापना विधि	१४६ - १४८
३०. मुनि की अहोरात्रिचर्या विधि	१४९ - १६६
३१. मुनि की ऋतुचर्या विधि	१७० - १८५
३२. संलेखना विधि	१८६ - १९३

!! सत्रहवाँ उदय !!

ब्रह्मचर्य व्रत ग्रहण

यति आचार दुष्पालनीय एवं कठिन है। जैसा कि कहा गया है -“विवेकरहित पुरुष के लिए यतिधर्म का पालन करना दुष्कर है, जिसमें पांच महाव्रतों को वहन करना होता है, साथ ही रात्रि भोजन का त्याग होता है तथा देह के प्रति निर्ममत्व के भाव की साधना की जाती है। मुनि का आहार उद्गम, उत्पादन एवं गवेषणा के दोषों से रहित, अर्थात् शुद्ध होना चाहिए। उसे इर्या (गमनागमन) आदि पांच समिति एवं तीन गुप्तियों और बारह प्रकार के तप की आराधना करनी चाहिए। हमेशा अनासक्त व ममत्व से रहित होकर निष्परिग्रहता के गुण में वास करना चाहिए। द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव के अनुसार मासिक आदि प्रतिमाओं और विभिन्न प्रकार के अभिग्रहों को धारण करना चाहिए। जीवनपर्यन्त स्नान का त्याग करना चाहिए एवं भूमि पर शयन करना चाहिए। केशलुंचन करना चाहिए तथा अपूर्व गुणों को धारण करने वाला होना चाहिए। क्षुधा, पिपासा आदि को सहन करते हुए सदा गुरुकुल में वास करना चाहिए। बाईस परीषहों और देव आदि के द्वारा प्रदत्त उपसर्गों को सहन करना चाहिए। लब्ध वस्तुओं के प्रति भी अनासक्ति की वृत्ति एवं अठारह हजार शीलांगों को धारण करना चाहिए। “यतिधर्म महत् तरंगों वाले समुद्र को अपनी भुजाओं से पार करने के समान है। वह यतिधर्म स्वादरहित बालुका के कवल को खाने के समान है। वह यतिधर्म अप्रमत्त रूप से तलवार की धार पर चलने के समान है, अथवा गंगा नदी में प्रवाह के विपरीत तैरने के समान है तथा मेरु पर्वत को तराजू में तोलने के समान कठिन है।” यति को अकेले ही विभीषीका एवं अन्य दुष्ट परिस्थितियों का सामना करना होता है। उपसर्ग और परीषहों को जीतना राधावेध के समान कठिन है। वह पूर्व में अग्रहित तीनों लोकों की विजयरूप पताका को ग्रहण करने के समान है। इस प्रकार से मुनि की प्रव्रज्या अतिदुष्कर कही गई है।

सभी व्रतों में ब्रह्मचर्यव्रत अत्यन्त दुष्कर है। जैसा कि आगम में कहा गया है, जिस तरह इन्द्रियों में रसनेन्द्रिय, कर्मों में मोहनीयकर्म एवं गुप्ति में मनगुप्ति अत्यन्त कठिन है, उसी प्रकार व्रतों में ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करना दुष्कर कहा गया है। दूसरे सिद्धांतों में भी कहा गया है - “सभी व्रतों और कर्मों का मूल ब्रह्मचर्यव्रत को कहा गया है। ब्रह्मचर्य के भग्न से सभी व्रत निरर्थक हैं।” ब्रह्मव्रत को दुष्कर माना गया है, क्योंकि ऐसा भी कहा गया है -

महाविषम रणभूमि में उग्र खड्ग को धारण करने वाले तो अनेक दिखाई देते हैं, परन्तु विषयों में अनासक्त, धीर, गंभीर पुरुषों का प्रायः अभाव ही रहता है। सिंह के पौरुष का मर्दन करने वाले तथा हाथियों के मद को गलित करने वाले अनेक हो सकते हैं, किन्तु कंदर्प एवं दर्प को नष्ट करने वाले कुछ विरले ही सत्पुरुष होते हैं। इस ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करने का अधिकारी कौन हो सकता है - यह बताते हुए कहा गया है - “शुद्ध सम्यक्त्वपूर्वक द्वादशव्रत आचार का पालन करने वाला, चैत्य एवं जिनिबिंब का निर्माण कराने वाला, जिनागम एवं चतुर्विध संघ की सेवा हेतु प्रचुर धन का व्यय करने वाला, भोग-अभिलाषा से पूर्ण सन्तुष्ट, उत्कृष्ट वैराग्यभावना से वासित, गृहस्थ के सम्पूर्ण मनोरथों को धारण करने वाला, शान्तरस में निमग्न, कुल की वृद्धाओं, पुत्र, पत्नी, स्वामी आदि के द्वारा अनुज्ञा प्राप्त एवं प्रव्रज्या ग्रहण करने के लिए उत्सुक श्रावक ही ब्रह्मचर्यव्रत को धारण करने के योग्य होता है। उस ब्रह्मचर्यव्रत धारण की विधि यह है :-

सर्वप्रथम शान्तिक-पौष्टिक कर्म करे, गुरुपूजा एवं संघपूजा करे, पश्चात् प्रव्रज्या हेतु उपयुक्त मुहूर्त के आने पर मुण्डित सिर एवं शिखासूत्र को धारण किए हुए वह श्रावक विवाह-उत्सव की भाँति महोत्सवपूर्वक पूर्व निर्दिष्ट गुणों से युक्त गुरु के समीप जाए। वहाँ गुरु नंदीपूर्वक सम्यक्त्वसामायिक, देशविरतिसामायिक का आरोपण पूर्ववत् कराए। चैत्यवंदन, दण्डक-उच्चारण, खमासमणा, आदि की क्रियाएँ भी पूर्ववत् करे, फिर उन सब क्रियाओं से निवृत्त होकर गुरु, श्रावक के तीन बार नवकार मंत्र पढ़ने के बाद यह दण्डक उच्चारण कराए अर्थात् यह प्रत्याख्यान कराएँ - हे भगवन् ! मैं सामायिक व्रत

को ग्रहण करता हूँ, (अतः) पापवाली प्रवृत्ति को प्रतिज्ञापूर्वक छोड़ता हूँ। जब तक मैं इस नियम का सेवन (पालन) करता रहूँगा, तब तक मन, वाणी और शरीर - इन तीन योगों से पाप व्यापार को न करूँगा, न कराऊँगा। हे भगवन् ! पूर्वकृत् पापवाली प्रवृत्तियों से मैं निवृत्त होता हूँ, उसकी निंदा करता हूँ, उसकी भर्त्सना करता हूँ एवं उसके प्रति रही हुई आसक्ति का त्याग करता हूँ। इस नियम का पालन करते हुए सर्व प्रकार से मैथुन का त्याग करता हूँ, दो करण, अर्थात् स्वयं करना तथा अन्य से करवाना एवं तीन योग, अर्थात् मन, वचन तथा काया से न करूँगा शेष पूर्ववत् बोले। “संसार-सागर को पार करने वाला हो”, यह कहकर गुरु संघ सहित वासक्षेप डाले। फिर आसन पर विराजित गुरु सामने स्थित ब्रह्मचारी को निम्न उद्देश दे - स्त्री, नपुंसक, पशु, वेश्या आदि के सान्निध्य में रहने का तथा स्त्रियों के अंगोपांग को ध्यानपूर्वक देखने का त्याग करना। रागसहित स्त्रीकथा का त्याग करना, परित्यक्त किए गए कामभोगों की स्मृति का त्याग करना। स्त्री के रम्य अंग को सुसज्जित करने एवं स्व-अंग के शृंगार का त्याग करना। विवाहोत्सव के भोजन का त्याग कर ब्रह्मचर्यव्रत से भावित रहना। स्त्रियों से राग-भावपूर्वक संभाषण, अर्थात् बातचीत नहीं करना। गृहस्थ के घर में सोना एवं बैठना आदि कार्य नहीं करना। अन्य की निन्दा और उपहास करने की प्रवृत्ति से सदैव दूर रहना। स्वाध्याय को छोड़कर हमेशा मौन को धारण करना। अन्य घरों में भोजन करते समय प्रायः सचित्त का त्याग करना। हमेशा कौपीन (लंगोटी) एवं मुंजमेखला (कटिसूत्र) को धारण करना। अंग-संस्कार नहीं करना और आभूषण आदि भी धारण नहीं करना। एक उत्तरीय वस्त्र को छोड़कर दूसरा वस्त्र धारण नहीं करना। मौनपूर्वक दोनों समय “आवश्यक क्रिया” करना, स्त्री के संग का त्याग करना तथा तीन वर्ष तक त्रिकाल परमात्मा की पूजा करना।

ज्ञातव्य है कि इस व्रत में प्रायः सचित्त का सम्पूर्ण रूप से त्याग नहीं होता है, केवल ब्रह्मचर्यव्रत को धारण किया जाता है। उपर्युक्त उद्देश देकर गुरु वासक्षेप प्रदान करे। फिर शिखा, सूत्र, लंगोटी एवं वस्त्र धारण करते हुए मौन तथा शुभ ध्यान में निमग्न, वह ब्रह्मचारी तीन वर्ष तक विचरण करता है। तीन वर्ष तक त्रिकरण

से शुद्ध ब्रह्मचर्य का पालन करने पर उस ब्रह्मचारी को क्षुल्लक प्रव्रज्या प्रदान की जाती है। यदि ब्रह्मचर्यव्रत का सम्यक् पालन नहीं होता है, तो वह पुनः गृहस्थधर्म में चला जाता है।

इस प्रकार वर्धमानसूरिकृत आचारदिनकर में प्रतिपादित यतिधर्म से पूर्व में ब्रह्मचर्य व्रत-कीर्तन नामक यह सत्रहवाँ उदय (विभाग) समाप्त होता है।



!! अठारहवाँ उदय !!

क्षुल्लकत्व विधि

तीन वर्ष तक त्रिकरण की शुद्धिपूर्वक ब्रह्मव्रत का पालन करने वाला, वैराग्यभाव से परिपूर्ण एवं दृढतापूर्वक शील का पालन करने वाला, यतिदीक्षा ग्रहण करने को उत्सुक, ब्रह्मचारी क्षुल्लकदीक्षा के लिए योग्य होता है। अतः कालक्रम से परिपक्व होने के कारण उसके लिए संयम का पालन तथा ब्रह्मचर्य महाव्रत एवं अन्य चार महाव्रतों का पालन करना सरल होता है। अरिहंत परमात्मा भी प्रव्रज्या हेतु उत्सुक होने पर भी अवरोध बिना सांवत्सरिक दान देते हैं। उसकी तुलना संवत्सर या वर्षभर महाव्रत के पालन से की जाती है।

ब्रह्मचर्यव्रत के पालन के बाद साधक को क्षुल्लकदीक्षा दी जाती है। वह इस प्रकार है - “त्रिकरण की शुद्धिपूर्वक ब्रह्मचर्य का पालन करने पर तीसरे वर्ष के अन्त में व्यक्ति क्षुल्लकत्व को प्राप्त करता है।” जिस प्रकार पूर्व में बताया गया है, उसी प्रकार गुणों से युक्त गुरु के पास जाकर दीक्षा के उपयुक्त तिथि, वार, नक्षत्र एवं लग्न के आने पर वह सिर मुण्डित करवाकर तथा स्नान करके मात्र शिखा एवं उपवीत धारण करे। फिर मुखवस्त्रिका लेकर ईर्यापथिकी की क्रियारूप आलोचना करे। तत्पश्चात् आसन पर विराजित गुरु के समीप खमासमणा देकर कहे - “हे भगवन् ! आपकी इच्छा हो, तो आप मुझे एक अवधि विशेष के लिए पंचमहाव्रतों को आरोपित करवाने की अनुमति प्रदान करें” गुरु कहे - “मैं अनुमति देता हूँ।”

फिर क्षुल्लकदीक्षा के लिए व्रतारोपण के समान ही नंदी, वासक्षेप, चैत्यवंदन, वंदन, कायोत्सर्ग आदि की सभी विधि करे। इसके बाद दण्डक उच्चारण अर्थात् महाव्रत ग्रहण करने के लिए गुरु को खमासमणापूर्वक वंदन कर निवेदन करे - “हे भगवन् ! आप मुझे एक अवधि विशेष के लिए पंचमहाव्रत के ग्रहण हेतु सम्यक् रूप से अनुमति प्रदान करें” तब गुरु कहे - “मैं सम्यक् रूप से अनुमति देता हूँ।”

तत्पश्चात् तीन बार नमस्कारमंत्र का पाठ करके शिष्य निम्न प्रकार से दण्डक का उच्चारण करे, अर्थात् महाव्रत ग्रहण करे “हे भगवन् ! मैं सामायिक व्रत को ग्रहण करता हूँ तथा पापकारी सावध क्रियाओं का यथावधि तक त्याग करता हूँ।” दो करण एवं तीन योग से अर्थात् मन, वचन एवं शरीर से न करूंगा, न करवाऊंगा। हे भगवन् ! उन पापकारी प्रवृत्तियों से मैं निवृत्त होता हूँ, उनकी निंदा करता हूँ, गर्हा करता हूँ। पुनः तीन बार परमेष्ठीमंत्र बोलकर कहे - “प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन, परिग्रह एवं रात्रिभोजन का यथावधि तक के लिए मैं सम्पूर्णतः त्याग करता हूँ। दो करण एवं तीन योग से अर्थात् मन, वचन एवं काया से न मैं करूंगा, न करवाऊंगा। हे भगवन् ! उन पापकारी प्रवृत्तियों से मैं निवृत्त होता हूँ। उनकी निंदा करता हूँ, गर्हा करता हूँ।” फिर शिष्य खमासमणापूर्वक वन्दन कर कहे - “हे भगवन् ! इच्छापूर्वक आप मुझे पंचमहाव्रत का एक अवधि विशेष हेतु पालन करने की आज्ञा दें।” गुरु कहे - “मैं आज्ञा देता हूँ।” इसी विधि से उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा हेतु छः खमासमणा सूत्र पूर्वक वन्दन करे तथा कायोत्सर्ग आदि भी पूर्व की भाँति तीन बार करे। नदी के अन्त में गुरु स्वयं अभिमंत्रित वासक्षेप लेकर और संघ के हाथों में अक्षत या वासक्षेप देकर कहे - “हे वत्स ! तुमने तीन वर्ष तक ब्रह्मचर्यव्रत का पालन किया, अब तुम क्षुल्लकत्व को प्राप्त करो। नियत अवधि पूर्ण होने तक पंच महाव्रतों का पालन करना। शिखा एवं सूत्र को धारण कर मुनि के समान सदैव विचरण करना। मुनियों द्वारा लाए गए शुद्ध एवं निर्दोष अन्न का आहार करना (यद्यपि वर्धमानसूरि ने पूर्व परम्परा के अनुसार क्षुल्लक को मुनियों द्वारा लाए गए एवं उसे प्रदान किए गए आहार को ग्रहण करने का निर्देश किया है, यद्यपि वर्तमान में ऐसा छोटी दीक्षा प्राप्त साधकों के लिए होता है।) अथवा गृहस्थों के घरों में जाकर भी भोजन के दोषों का त्याग करके निर्दोष भोजन करना। भोजन में सचित्त वस्तु का स्पर्श भी मत करना। पूर्व की भाँति चैत्यवन्दन और साधुओं की श्रेष्ठ भक्ति करना। दोनों समय आवश्यक क्रिया करना एवं सदैव स्वाध्याय में संलग्न रहना। क्षुल्लक का वेश ब्रह्मचारी के

समान होता है। उसे मुनि के समान ही शान्तिपूर्वक ब्रह्मगुप्तियों का पालन करना चाहिए।

“तुम नवदीक्षित साधु-साध्वियों को प्रणाम करना, किन्तु उनसे प्रणाम करवाना नहीं। सिद्धांत रूप आगम ग्रन्थों को छोड़ कर धर्मशास्त्र का अध्ययन करना। व्रतारोपण- संस्कार को छोड़कर गृहस्थों के (शेष) संस्कार करवाना। साथ ही तुम शान्तिक, पौष्टिक एवं प्रतिष्ठा आदि क्रियाओं को भी करवा सकते हो।” यह कहकर संघ सहित सूरि, अर्थात् आचार्य “संसार-सागर से पार करने वाले बनो।” ऐसा कहकर उसके मस्तक पर वासक्षेप डालते हैं। फिर क्षुल्लक गुरु की अनुज्ञा से मुनि की तरह धर्मोपदेश देते हुए तीन वर्ष की अवधि तक विचरण करे तथा संयम की यथावत् परिपालना कर तीन वर्ष पश्चात् प्रव्रज्या ग्रहण करे। व्रत का सम्यक् प्रकार से परिपालन न कर पाने पर वह पुनः गृहस्थ जीवन में प्रवेश कर सकता है।

इस प्रकार वर्धमानसूरि विरचित आचारदिनकर में यतिधर्म की पूर्व अवस्थारूप क्षुल्लकत्व-कीर्तन नामक अठारहवाँ उदय समाप्त होता है।



!! उन्नीसवाँ उदय !!

प्रव्रज्या विधि

आगम शास्त्र में जिनको दीक्षा प्रदान करने का निषेध किया है, उन्हें दीक्षा नहीं दी जाती है। आगमों में दीक्षा के लिए अयोग्य व्यक्ति बताए गए हैं, जैसे - पुरुषों में अठारह प्रकार के पुरुष, स्त्रियों में बीस प्रकार की स्त्रियाँ, नपुंसकों में दस प्रकार के नपुंसक, इसी प्रकार आगम में विकलांगों को भी प्रव्रज्या के लिए अयोग्य माना गया है। कहा गया है - “पुरुषों में अठारह प्रकार के पुरुष, स्त्रियों में बीस प्रकार की स्त्रियाँ, नपुंसकों में दस प्रकार के नपुंसक एवं विकलांग - ये सब प्रव्रज्या के योग्य नहीं होते हैं।” अन्य परम्परा के ग्रन्थों में भी कहा गया है - “जाति से दूषित (जुंगित), अंग से दूषित, कुल-कर्मों से शूद्र, शिल्पी आदि संन्यास ग्रहण करने के योग्य नहीं होते हैं - यह मनु का कथन है।” हिन्दू परम्परा में कहे गए व्रत ग्रहण करने के अयोग्य व्यक्तियों को जिन प्रवचन में भी मुनि-दीक्षा के अयोग्य माना गया है। दीक्षा के अयोग्य अठारह प्रकार के पुरुष निम्न हैं :-

१. बाल २. वृद्ध ३. नपुंसक ४. क्लीब ५. जट्ट (जड़)
६. रोगी ७. चोर ८. राजद्रोही ९. उन्मत्त १०. अंध ११. दास
१२. दुष्ट १३. मूढ़ १४. कर्जदार १५. निन्दित १६. परतन्त्र
१७. भृत्य और १८. शैक्षनिष्फेदिक।

आठ वर्ष तक की आयु वाले को बाल कहा जाता है। वृद्ध व्यक्ति वह है, जिसकी इन्द्रियाँ क्षीण हो गई हैं एवं कर्मेन्द्रियों के क्षीण हो जाने से जिसने जीवन की चतुर्थ अवस्था को प्राप्त कर लिया है, वह संस्तारक दीक्षा (संलेखना) के तो योग्य है, परन्तु प्रव्रज्या के योग्य नहीं है। नपुंसक का अर्थ है - जो पुरुष एवं स्त्री से भिन्न तीसरी ही काम-प्रकृति का होता है, उसे नपुंसक या षण्ड कहते हैं। जो व्यक्ति स्त्रियों द्वारा भोग की याचना करने पर भोग के लिए समर्थ न हो, उसे क्लीब कहा गया है। जड़ उसे कहा गया है, जो भाषाजड़, क्रियाजड़ एवं शरीरजड़ हो। रोगी वह जो सदा रोगों से ग्रस्त रहता

हो तथा जो स्वाध्याय, आवश्यकक्रिया, भिक्षाचर्या और विहार नहीं कर सके, अर्थात् उसमें असमर्थ हो। चौर्यकर्म करने वाला, जो राजा आदि के निग्रह से भयभीत होकर व्रत की आकांक्षा रखता हो, उसे चोर (स्तेन) कहा गया है। ऐसा पुरुष जिसने राजा का अपराध किया हो, उसे राजापकारी, अर्थात् राजद्रोही कहते हैं। उन्मत्त, अर्थात् वह व्यक्ति जो भूत, वायु आदि के दोषों से युक्त होकर, जिसने उन्मत्तता को प्राप्त किया है। अदर्शन, अर्थात् वह व्यक्ति जिसने मिथ्यात्व का ग्रहण कर सम्यक्त्व का वमन (त्याग) कर दिया है, साथ ही जो अन्धा है, उसे भी अदर्शन कहा गया है। दास, अर्थात् वह व्यक्ति जो मूल्य (धन) देकर खरीदा गया हो, उसे दास कहा गया है। दुष्ट, अर्थात् वह व्यक्ति जो तीव्र कषायवाला एवं परस्त्री में अत्यन्त आसक्त हो, अर्थात् जो विषय-भोग एवं तीव्र कषाय से युक्त हो, उसे दुष्ट कहा गया है। मूढ़, अर्थात् वह व्यक्ति जो उचित-अनुचित का विचार नहीं कर पाए, अथवा जो परमात्मा आदि के नाम-स्मरण में भी रुचि नहीं रखता हो, उसे मूढ़ कहते हैं। जो अनेक लोगों के ऋण से युक्त हो, अर्थात् कर्जदार हो, उसे ऋणार्त कहा गया है। हुंगित (जुंगित) दो प्रकार के होते हैं : जातिजुंगित और कर्मजुंगित। जातिजुंगित से तात्पर्य नीच जाति से है। कारुक (शिल्पी), नीच जाति में उत्पन्न या माता-पिता की शुद्धि के बिना उत्पन्न, अर्थात् अनाथ, वेश्या और दासियों के पुत्रों को जातिजुंगित कहा जाता है। कर्मजुंगित का तात्पर्य ऐसे व्यक्ति से है, जो ब्रह्महत्या आदि करने वाला महापापी है। “हुंगि बुगि वर्जने”, इस धातु से पशु-पक्षी की हिंसा करने वालों को भी इसी में शामिल किया गया है। अवबद्ध, अर्थात् जो व्यक्ति दूसरों का धन लेकर मास, वर्ष आदि तक सेवा के लिए वचनबद्ध है, उसे अवबद्ध कहते हैं। भृत्य, अर्थात् जो वस्त्र, भोजन, मूल्य के द्वारा किसी अन्य का दास बना हुआ हो, उसके भृत्य कहते हैं। शैक्षनिस्फेटिक, अर्थात् माता-पिता, गुरु (वृद्धजनों), महत्तर (आदरणीय) व्यक्तियों की अनुमति के बिना जबरदस्ती दीक्षा ग्रहण करने की इच्छा रखने वाले व्यक्ति को शैक्षनिस्फेटिक कहते हैं - ये अठारह प्रकार के पुरुष दीक्षा के लिए अयोग्य हैं, अर्थात् वर्जित किए गए हैं।

बीस प्रकार की स्त्रियों को भी दीक्षा के लिए अयोग्य माना है, वे इस प्रकार हैं - जो अठारह भेद दीक्षा के अयोग्य पुरुषों के बताए गए हैं, वे सभी स्त्रियों के लिए भी उसी प्रकार से हैं। उनमें गर्भिणी और बालवत्सा - ये दो भेद और मिलने से दीक्षा के अयोग्य स्त्रियों के कुल बीस भेद होते हैं। बाल आदि अठारह भेद स्त्रियों में भी बताए गए हैं तथा गर्भिणी स्त्री एवं जिसका बच्चा अभी स्तनपान करता हो, इस प्रकार ये दो मिलकर कुल बीस भेद होते हैं।

नपुंसकों में दस प्रकार के नपुंसक दीक्षा के लिए अयोग्य होते हैं। वे इस प्रकार हैं- षंडक, वातिक, क्लीब, कुंभी, ईर्ष्यालु, शकुनि, तत्कर्मसेवी, पाक्षिक-अपाक्षिक, सौगंधिक और आसक्त - ये दस नपुंसक अतिसंक्लिष्ट चित्त वाले होने से प्रव्रज्या के अयोग्य कहे गए हैं।

षण्ड का तात्पर्य - जिसकी काम-वासना नारी के समान ही अन्य पुरुष के द्वारा भोगे जाने की हो; स्वर, वर्ण आदि स्त्री एवं पुरुष के लक्षणों की अपेक्षा से विलक्षण हो, जिसका पुरुष चिन्ह अति स्थूल हो, जिसका स्वर स्त्री की तरह कोमल हो, जिसका पेशाब शब्द युक्त एवं झागयुक्त हो - ये छः लक्षण नपुंसक के होते हैं। वातिक, अर्थात् मुकुलित लिंग वाला। जिसका पुरुष चिन्ह स्त्री संभोग के बिना पुनः सहज न हो, उसे वातिक कहा है। कुंभी - जिसके अंडकोश कुंभी के समान अति स्थूल हों, उसे कुंभी कहा गया है। ईर्ष्यालु - जो कामित स्त्रियों द्वारा परपुरुष के साथ आलाप एवं दर्शनमात्र से ही ईर्ष्या करने वाला हो। शकुनि - अर्थात् जिसे अति तीव्र कामवासना का उदय हो एवं जिसकी वीर्य आदि सप्त धातुएँ क्षीण होने पर भी कामवासना क्षीण न हो। तत्कर्मसेवी - जो व्यापार आदि पुरुषोचित सब कार्यों को छोड़कर केवल स्त्री-संभोग में रत रहने वाला हो, भोजनादि सभी स्थितियों में भी संभोग की कामना करता हो। पाक्षिका-पाक्षिक - जो स्वपक्ष, अर्थात् पुरुषों के प्रति हस्त मैथुन, गुदा मैथुन आदि में अत्यधिक कामवासना से पीड़ित हो, परपक्ष, अर्थात् स्त्री आदि में कामोत्तेजना वाला न हो। सौगन्धिक - वीर्यपतन होने के पश्चात् जो हमेशा पुरुष चिन्ह को सुगंधित मानकर सूघता हो। आसक्त - वीर्यपात होने पर भी स्त्री के शरीर का आलिंगन चाहता

हो - ये दस प्रकार के नपुंसक चित्त से संक्लिष्ट होने के कारण प्रव्रज्या के लिए अयोग्य हैं। यहाँ दस प्रकार के कृतसंभोग तथा पुंवेदोदय (स्त्री के सेवन की काम-वासना) से युक्त पुरुषों को भी नपुंसक क्यों कहा गया है ? आगम में कहा गया है - “अत्यन्त और अनुचित कामवासना का जो पुरुष सेवन करते हैं, उन सबको नपुंसक जानना चाहिए।” तत्त्वार्थसूत्र की टीका में विकृत रूप से काम-सेवन हेतु अन्य पर आसक्ति रखना पुरुषत्व नहीं है, अतः दस प्रकार के नपुंसकों को दीक्षा के लिए वर्जित किया गया है। तृतीय प्रकार के नपुंसक का वर्जन क्लीब के रूप में किया गया है, जो दीक्षा के अयोग्य पुरुषों में वर्णित है।

दीक्षा के लिए अयोग्य विकलांग इस प्रकार हैं - हाथ, पाँव, नाक, कान, होठ रहित, वामन, वडभ, कुब्ज, पंगु, लूला और काणा - ये सब विकलांग दीक्षा के लिए अयोग्य हैं। दीक्षा लेने के बाद यदि कोई विकलांग हो जाता है, तो उसे आचार्य पद नहीं दिया जाता है। यदि आचार्य विकलांग हो जाए, तो उनके स्थान पर योग्य शिष्य को आचार्य पद का दायित्व दिया जाता है और विकलांग आचार्य को चुराए हुए महिष की तरह गुप्त स्थान में रखा जाता है।

जन्म से, या जन्म के बाद हाथ, पाँव, नाक, होठ से रहित, वामन, वडभ, कुब्ज, पंगु, लूला और काणा ये सब व्यक्ति प्रव्रज्या के योग्य नहीं होते हैं। यहाँ वडभ का तात्पर्य संकुचित हाथ-पैर वाले व्यक्ति से है। शेष विकलांग के प्रकारों का भावार्थ सामान्यतः सभी जानते हैं। कदाचित् निरोग शरीर वाला व्यक्ति दीक्षा ले और समय बीतने पर हस्तहीन आदि दोषों को प्राप्त हो जाए, तो उसमें आचार्य के सभी गुण होने पर भी वह आचार्य पद के लिए अयोग्य माना जाता है। काणा (एक आँख से रहित) आदि दोषों से युक्त शिष्य को व्रती ही रखें, पद पर आरोपित न करे - यह दीक्षा-अधिकार है।

पूर्व में बताए गए इन दोषों से रहित, मृदु, सरल, क्षमावान्, शम, संवेग, निर्वेद, अनुकंपा, आस्तिक्य आदि गुणों से युक्त व्यक्ति दीक्षा के योग्य होता है। जैसा कि आगम में कहा गया है - “शुद्ध जाति, कुल, रूपवाला, शान्त, धीर, प्रसन्न चित्त वाला पुरुष प्रव्रज्या के योग्य होता है।”

अन्य परम्पराओं में भी कहा गया है -“श्रेष्ठ जाति वाला, शुद्ध कुल वाला, विद्वान, सुन्दर अंग वाला, शान्त, इन्द्रियों को जीतने वाला और विषयों से विरक्त व्यक्ति ही संन्यास के योग्य होता है।” गृहस्थधर्म, ब्रह्मचर्य और क्षुल्लकत्व की उपासना कर चुकने वाला ब्रह्मचारी व्रत के लिए योग्य होता है। गृहस्थ-जीवन में ब्रह्मचर्य का बराबर पालन करने वाले और क्षुल्लकत्व की अवधि को पूर्ण करने वाले गृही को प्रव्रज्या ग्रहण न करने पर उसे पुनः गृहस्थधर्म में स्थापित किया जा सकता है, परन्तु प्रव्रज्या ग्रहण करने के पश्चात् पुनः गृहस्थ नहीं हो सकता। जैसा कि आगम में कहा गया है - “बाल्यावस्था, ब्रह्मचर्यावस्था एवं गृहस्थावस्था का त्याग करके मुनि के व्रतों को ग्रहण करने के बाद मृत्यु आने पर भी उनका परित्याग नहीं किया जा सकता है।” विधिपूर्वक उपनीत ब्रह्मचारी बालक ही व्रतारोपण के लिए योग्य है। यहाँ गुरु पूर्व में कहे गए अनुसार विधि करे। जैसा कि आगम में कहा गया है -

“आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक तथा वाचनाचार्य या गीतार्थ श्रेष्ठ साधु दीक्षा देने के लिए योग्य है। जिन्हें साधु और श्रावक वंदन करते हैं, वे गुरुजन ही प्रव्रज्या देने के योग्य हैं, अन्य नहीं।”

गच्छ की समाचारी के अनुसार सामान्यतया आचार्य द्वारा ही प्रव्रज्या दी जाती है, किन्तु उनकी अनुपस्थिति में कभी-कभी उपाध्याय द्वारा भी दीक्षा दी जाती है। इसी प्रकार गणि आदि क्रम से दीक्षा देने के योग्य माने जाते हैं। दीक्षा की विधि इस प्रकार से है:-

दीक्षा और महाव्रतारोपण (बड़ी दीक्षा) में मूला, पुनर्वसु, स्वाति, अनुराधा, हस्त, श्रवण, पुष्य, विशुद्ध उत्तरात्रय नक्षत्र शुभ माने गए हैं। इसी प्रकार दूषित वारों, अर्थात् शुक्रवार एवं मंगलवार को छोड़कर अन्य वारों में, अशुभ तिथियों को छोड़कर अन्य तिथियों में, विशुद्ध वर्ष, मास एवं वार या दिन को देखकर, जन्ममास को छोड़कर, गोचर चंद्रबल के विशुद्ध होने पर तथा गुरु के बलवान् होने पर गुरु के और शिष्य के सम्बन्धों की सौहार्द्रता के हेतु ज्योतिष के आधार पर कुण्डली मिलान करके शुभलग्न में गुरु के सर्वबल से युक्त होने पर, ऊपर वर्णित गुणों से युक्त गुरु, शिष्य को दीक्षा प्रदान करे। शुक्र के उदय में, शुक्रवार को, शुक्रांश में तथा दीक्षालग्न

के पाँचवें स्थान में यदि शुक्र हो तो उस मुहूर्त में दीक्षा नहीं देनी चाहिए। इसी प्रकार चन्द्र के उदय में या चंद्र के अंशोदय में, सोमवार को एवं चंद्र दर्शन के समय भी दीक्षा नहीं देनी चाहिए। किन्तु दीक्षा लग्न के दूसरे, पाँचवें, छठे एवं ग्यारहवें स्थान में सूर्य हो, दूसरे, तीसरे, छठे एवं ग्यारहवें स्थान में चंद्र हो, तीसरे, छठे, दसवें एवं ग्यारहवें स्थान में मंगल या बुध हो, केन्द्र (१, ४, ७, १०) और त्रिकोण (५, ६) में गुरु हो, तीसरे, छठे, नवें और बारहवें स्थान में शुक्र हो, दूसरे, पाँचवें और ग्यारहवें स्थान में शनि हो तथा लग्नांश में गुरु एवं शनि बलवान् हो तो दीक्षा विधि करनी चाहिए।

अन्य कुछ आचार्यों के मत से दीक्षा के लग्न में सूर्य तीसरे स्थान पर हो, चंद्रमा दसवें स्थान पर हो, गुरु और बुध आठवें एवं बारहवें स्थान पर हो, शुक्र केन्द्र में या आठवें स्थान पर हो तथा शनि तीसरे या छठे स्थान में स्थित हो तो दीक्षा नहीं देनी चाहिए।

दीक्षा लग्न के सातवें स्थान में चन्द्र, मंगल, शुक्र एवं शनि हो, तो वह दीक्षा लग्न भी दीक्षा विधि हेतु अभीष्ट नहीं है। इसी क्रम में दीक्षा लग्न में राहु और केतु के शुभाशुभत्व का विचार भी प्रतिष्ठा विधि के समान ही कर लेना चाहिए। दीक्षा लग्न में मंगल आदि के साथ चंद्रमा की युति हो वह दीक्षा लग्न भी इष्ट नहीं है, क्योंकि यह कलह, भय, मृत्यु, धन-हानि, विपत्ति और राजभय का कारण होता है।

इस प्रकार के शुभलग्न में दीक्षा के पूर्व पौष्टिककर्म करे फिर महादान दें और सभी धर्मों और दर्शनों के अनुयायी सभी याचकों को संतुष्ट करे। यहाँ सम्पूर्ण विधियाँ वधू के पाणिग्रहण को छोड़कर विवाह की विधि के समान ही होती हैं। इस अवसर पर पुरुष का विवाह संयमललना के साथ होता है - ऐसा लोकव्यवहार है। पूर्व में बताए गए अनुसार उपनयन के द्वारा उपनीत, जिन्होंने गृहस्थधर्म, ब्रह्मचर्यव्रत एवं क्षुल्लकत्व का पालन किया है, ऐसे ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा वैश्य इस व्रत के योग्य हैं। साथ ही तीनों वर्णों के उपनयन-संस्कार से रहित आठ वर्ष से अधिक वय के किशोर भी दीक्षा के योग्य होते हैं, अर्थात् उन्हें भी दीक्षा दी जा सकती है, किन्तु उन्हें मुनिदीक्षा देने के पूर्व उनकी उपनयन-विधि करनी चाहिए और

उसी प्रकार व्रतबन्ध आदि करवाना चाहिए। व्रतबन्ध में उसको द्विजाति की प्राप्ति होती है। व्रत की अनुज्ञा आदि का दीक्षा-विधि में उपयोग नहीं होता है। यहाँ व्रतबन्ध भी वर्ण के आख्यापन के लिए ही है, क्योंकि शूद्र दीक्षा के योग्य नहीं होता - ऐसा कहा जाता है; किन्तु द्विजों के समान आचरण करने वाला शूद्र भी यदि बाल्यावस्था से क्षुल्लकत्व का पालन करने वाला हो, या व्रतकाल में मंत्र से मंत्रित जिन उपवीत को धारण करने वाला हो तो वह भी दीक्षा के योग्य है, उसे शिष्य बनाएं, अर्थात् प्रव्रज्या दें। वास्तव में ये संस्कार सदाचार के मार्ग में प्रवेश रूप हैं। दूसरे शब्दों में आचरण का प्रवेश द्वार है। कहा भी गया है - “व्यक्ति जन्म से तो शूद्र होता है, संस्कार से ही ब्राह्मण बनता है, अतः प्रव्रज्या (मुनिदीक्षा) के अतिरिक्त गृहस्थधर्म में लोकव्यवहार की अपेक्षा से शूद्र का उपनयन नहीं होता है, परन्तु व्रतदान में अर्थात् दीक्षा के पूर्व उसका भी उपनयन संस्कार करना आवश्यक होता है; क्योंकि उपनयन संस्कार में भी पुरुषमंत्र के द्वारा पुरुष की पूर्व की जाति एवं गृहस्थधर्म का त्याग करवाया जाता है।

पुरुष-मंत्र इस प्रकार है :-

“ॐ अहं पुरुषस्त्वं पुरुषज्ञस्त्वं पुरुषशीलस्त्वं पुरुषान्तरस्त्वं
 पुरुषध्येयस्त्वं पुरुषध्याता त्वं पुरुषोपास्यस्त्वं पुरुषोपासकस्त्वं
 पुरुषयोज्यस्त्वं पुरुषयोजकस्त्वं पुरुषावगन्ता त्वं पुरुषावगम्यस्त्वं
 पुरुषावक्षेप्यस्त्वं पुरुषाक्षेप्तास्त्वं पुरुषाभिगम्य त्वं पुरुषाभिगन्ता त्वं
 पुरुषपूज्यस्त्वं पुरुषपूजकस्त्वं पुरुषप्रणम्यस्त्वं पुरुषप्रणन्ता त्वं
 पुरुषप्रणयस्त्वं पुरुषप्रणैता त्वं उपास्यस्त्वं योगस्त्वं स त्वं यस्त्वं,
 अन्यस्त्वं परस्त्वं एवं त्वं असौ त्वं अयं त्वं त्वमेव पुरुष उपसंगृहाणहि
 अहं ॐ ।”

यह मंत्र तीन बार पढ़कर फिर शूद्र को जिन उपवीत दे। फिर व्रतकाल में गुरु के उपाश्रय में वेदी-रचना करके समवसरण की स्थापना करे। नानाविध पूजा के उपकरणों से समवसरण में स्थित अरहंत परमात्मा की पूजा करे। पश्चात् दीक्षार्थी के पितृपक्ष के लोग, मातृपक्ष के लोग, स्वजन, सम्बन्धीजन या अन्य गृहस्थ दीक्षार्थी को मनुष्य द्वारा खींची जाने वाली गाड़ी, घोड़े या शिविका पर आरूढ़ करके विवाह-प्रसंग के समान ही मंगलगान गाते हुए, वाद्य बजाते हुए

महोत्सवपूर्वक अपने-अपने वर्ण के अनुसार विपुल अलंकारों को धारण करके तथा चैत्य में अरिहंत प्रतिमा की बहुमानपूर्वक पूजा करके गुरु के उपाश्रय में आए। वहाँ प्रवेश करने के बाद अन्त में दीक्षार्थी वस्त्र-अलंकार आदि स्वयं उतारकर, स्वयं सिर के केशों का लोच करे, या मुण्डन करवाकर सिर पर शिखामात्र रखे। परिधान, उत्तरासंगधारी, शिखा एवं सूत्र को धारण किए हुए (दीक्षार्थी) अपने परिजनों के साथ गुरु के पास जाए। वहाँ गुरु और दीक्षार्थी वेदी के मध्य भाग में जाकर समवसरण को तीन-तीन प्रदक्षिणा दे। यदि व्रत-ग्रहण चैत्य में करता है, तो शिष्य चैत्य की भी तीन प्रदक्षिणा दे। प्रदक्षिणा करते समय, शिष्य हाथ में गन्ध, अक्षत, फल एवं नारियल रखे। फिर शिष्य उच्चासीन, पूर्वाभिमुख बैठे हुए गुरु को खमासमणासूत्र से वंदन कर कहे - “यदि आपकी इच्छा हो, तो आप मुझे प्रव्रज्या दे।” तब गुरु कहे - “मैं प्रव्रज्या देता हूँ।” गुरु पूर्व में कहे अनुसार वास को अभिमंत्रित करे। तत्पश्चात् शिष्य खमासमणासूत्र पूर्वक वंदन कर कहे - “आप सम्यक्त्व सामायिक, श्रुत सामायिक, देशविरति सामायिक, सर्वविरतिसामायिक का आरोपण करने के लिए नंदीक्रिया करने हेतु मुझे अनुज्ञापूर्वक वासक्षेप करे एवं चैत्यवंदन कराएं।” फिर गुरु शिष्य के सिर पर वासक्षेप करते हुए कामधेनु मुद्रा से मंत्र द्वारा रक्षा करे। तत्पश्चात् वर्द्धमानस्तुति से चैत्यवंदन करवाकर शान्तिदेवता, श्रुतदेवता, क्षेत्रदेवता, भुवनदेवता, शासनदेवता, वैयावृत्त्यकरदेवता के कायोत्सर्ग एवं स्तुति सब पूर्व की भाँति ही कराए। फिर शिष्य खमासमणासूत्र से वंदन करके कहे - “हे भगवन् ! आप मुझे प्रव्रज्या का वेश प्रदान करे।” तब पूर्व की तरफ मुख किए हुए गुरु उत्तर दिशा की तरफ मुँह रखवाकर शिष्य को वेश अर्पण करे, यह (गुरु का) कर्तव्य है।

चोलपट्टा, चादर, जानवरों के केशों से बना हुआ रजोहरण, अर्थात् ऊन का रजोहरण और मुखवस्त्रिका - यह मुनिवेश है। शिष्य “मैं इच्छापूर्वक ग्रहण करता हूँ” - ऐसा कहकर रजोहरण को दक्षिण स्कन्ध से सटाकर (लगाकर) दोनों हाथों से वेश को ग्रहण करे। फिर ईशान कोण में जाकर पूर्व या उत्तराभिमुख होकर शिष्य मुनिवेश को धारण करे। दस्सियों से युक्त धर्मध्वज, अर्थात् रजोहरण को दक्षिण स्कन्ध से लगाकर अंगुलियों के मध्य में मुखवस्त्रिका को रखकर वह

दीक्षार्थी शिष्य गुरु के समीप आए। तत्पश्चात् खमासमणासूत्र से वंदन करके कहे -“हे भगवन् ! आप मुझे मुण्डित करे।” तब गुरु परमेष्ठीमंत्र पढ़कर सिर की शिखा को ऊपर उठाकर उसकी तीन लटों को ग्रहण करे, अर्थात् शिखा को ले और उसी के साथ जिनउपवीत भी उतरवा ले। फिर सम्यक्त्वसामायिक, श्रुतसामायिक, देशविरति सामायिक, सर्वविरति सामायिक आरोपण के लिए कायोत्सर्ग करना, चतुर्विंशतिस्तव का चिन्तन करना, मुख से चतुर्विंशति स्तव का पाठ करना, मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना करना, वंदन करना आदि सब क्रियाएँ पूर्ववत् ही करे। फिर शिष्य खमासमणासूत्र से वंदन करके कहे -“आप मुझे स्वेच्छापूर्वक सम्यक्त्वसामायिक, श्रुतसामायिक, देशविरति-सामायिक तथा सर्वविरति सामायिक का आरोपण करे।” गुरु कहे -“मैं आरोपण करता हूँ।” फिर तीन बार नमस्कारमंत्र पढ़कर शिष्य गुरु के साथ सम्यक्त्वसामायिक-दण्डक का तीन बार उच्चारण करे। पुनः (शिष्य) उसी प्रकार उसी विधि से देशविरति-सामायिक-दण्डक एवं सर्वविरति सामायिक-दण्डक का तीन-तीन बार उच्चारण करे सम्यक्त्वसामायिक, देशविरति सामायिक-दण्डक पूर्व में कहे गए अनुसार ही है। सर्वविरति-सामायिक-दण्डक इस प्रकार है -“हे भगवन् ! मैं सामायिकव्रत को ग्रहण करता हूँ, सभी पापकारी प्रवृत्तियों का प्रतिज्ञापूर्वक त्याग करता हूँ। जीवनपर्यन्त मन, वाणी और शरीर के तीन योगों से पाप-व्यापार न तो करूँगा, न करवाऊँगा, न करते हुए का समर्थन करूँगा। हे भगवन् ! पूर्वकृत पापप्रवृत्तियों से मैं निवृत्त होता हूँ, उनकी निंदा करता हूँ, गर्हा करता हूँ एवं उसके प्रति ममत्ववृत्ति का त्याग करता हूँ।”

जिसने पहले ही सम्यक्त्वसामायिक, श्रुतसामायिक, देशविरति-सामायिक ग्रहण किया हुआ है, उसको सम्यक्त्वसामायिक, देशविरति-सामायिक आदि के दण्डक (पाठ) का उच्चारण न कराए और न वह पूर्व में कहे गए अनुसार सम्यक्त्वसामायिक, श्रुतसामायिक, देशविरति-सामायिक के ग्रहण कराने का कथन करे। उसे मात्र एक सर्वविरति-सामायिक-दण्डक का उच्चारण पूर्व में कहे गए अनुसार कराए। जिस व्यक्ति ने पूर्व में सम्यक्त्व-सामायिक, श्रुत-सामायिक एवं देशविरति-सामायिक का उच्चारण नहीं किया हो,

उसे सामायिक के इन तीन आलापकों के साथ तीनों दण्डक का उच्चारण कराए। फिर शिष्य आसन पर विराजित गुरु के समक्ष खमासमणासूत्र से वंदन करके कहे - “हे भगवन् ! स्वेच्छापूर्वक आप मुझे सर्वविरति-सामायिक आरोपण हेतु अनुज्ञा दें।” इस प्रकार इन आलापकों के द्वारा छः बार खमासमणा सूत्रपूर्वक वंदन करना, गुरु के द्वारा कहे जाने वाले वाक्य आदि सब पूर्व की भाँति हैं। तत्पश्चात् पुनः खमासमणासूत्र पूर्वक वंदन कर शिष्य कहे - “हे भगवन् ! आज्ञापूर्वक आप मुझे सर्वविरति-सामायिक- आरोपण के लिए निरुद्ध (प्रतिज्ञा) कराए।” तब गुरु आयम्बिल का प्रत्याख्यान कराए। तत्पश्चात् दीक्षा-प्रदाता गुरु साधुओं के हाथ में अभिमंत्रित वासक्षेप दे और प्रमुख साध्वी, श्रावक, श्राविकाओं के हाथ में अभिमंत्रित अक्षत दे। फिर गुरु शिष्य का नामकरण करे। नामकरण सप्तविशुद्धियों से युक्त करना चाहिए। सप्त विशुद्धियाँ इस प्रकार है :- १. नक्षत्रयोनि-अविरोध २. गणाविरोध ३. वर्गाविरोध ४. नाड्यविरोध ५. राश्याधिपत्यविरोध ७. लभ्यालभ्य विभाग अविरोध। गुरु इन सात विशुद्धियों को देखकर शिष्य का नामकरण करे। नामकरण होने पर सभी साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका शिष्य के सिर पर वासक्षेप और अक्षत डाले। फिर शिष्य समवसरण एवं गुरु की प्रदक्षिणा करके गुरु और अन्य साधुओं को वंदन करे। फिर साध्वीगण तथा श्रावक-श्राविकाएँ उस नवदीक्षित मुनि को वंदन करे। तत्पश्चात् गुरु देशना दे। देशना का स्वरूप इस प्रकार है :-

“जीव के लिए मनुष्य, जन्म, श्रुत पर श्रद्धा, संयमसामग्री एवं गीतार्थगुरु” - ये चारों ही परम अंग अत्यन्त दुर्लभ हैं, इत्यादि। यहाँ आचार्य प्रव्रज्या-विधान एवं संयम के महत्त्व का संपूर्णतः व्याख्यान करे और कहे यदि जीव एक दिन का भी चारित्र उत्कृष्ट भाव से पालन करके मरण को प्राप्त होता है, तो चाहे वह मोक्ष को नहीं प्राप्त कर सके, परन्तु वैमानिक देवलोक को अवश्य प्राप्त करता है, इत्यादि। इस प्रकार दीक्षा के महत्त्व को बताने वाली योग्य गाथाओं की व्याख्या करे।

यहाँ नियमतः दशवैकालिकसूत्र के क्षुल्लकाचारकथा नामक अध्ययन सहित सामायिकचारित्र के धारक साधुओं के आचार का और

इसी प्रकार क्षुल्लकों के क्षुल्लकाचार का विवेचन करे। वह इस प्रकार है :-

“जिनकी आत्मा संयम में सुस्थित हैं, जो बाह्य-आभ्यन्तर परिग्रह से विमुक्त हैं तथा जो स्व-पर आत्मा के त्राता हैं, उन निर्ग्रन्थ महर्षियों के लिए ये (निम्नलिखित) अकल्प्य हैं :-

औद्देशिक-निर्ग्रन्थ के निमित्त बनाया गया, क्रीतकृत-निर्ग्रन्थ के निमित्त खरीदा गया, नित्याग्र-आदरपूर्वक निमन्त्रित कर प्रतिदिन दिया जाने वाला, अभिहत-निर्ग्रन्थ के निमित्त दूर से सम्मुख लाया गया आहार आदि लेना, रात्रिभक्त-रात्रि भोजन करना, स्नान-न्हाना, गंध-गंध सूंघना या गन्धद्रव्य का विलेपन करना, माल्य-माला पहनना, बीजन-पंखा झलना, संनिधि-खाद्य वस्तु का संग्रह करना, रातवासी रखना, गृहिअमत्र-गृहस्थ के पात्र में भोजन करना, राजपिण्ड-मूर्धाभिषिक्त राजा के घर से भिक्षा लेना, किमिच्छक-कौन क्या चाहता है ? इस तरह पूछ कर दिया जाने वाला राजकीय भोजन आदि लेना। संबाधन-अंगमर्दन करना, दंत प्रधावन-दाँत पखारना, संप्रच्छन-गृहस्थ को कुशल पूछना, देह प्रलोकन-दर्पण आदि में शरीर को देखना, अष्टापद-शतरंज खेलना, नालिका- नलिका से पासा डाल कर जुआ खेलना, छत्र-विशेष प्रयोजन के बिना छत्र धारण करना, चैकित्स्य-रोग का प्रतिकार करना, चिकित्सा करना, उपानत्-पैरों में जूते पहनना, ज्योतिःसमारम्भ-अग्नि जलाना, शय्यातर पिण्ड-स्थान दाता के घर से भिक्षा लेना, आसंदी-मंचिका, पर्यंक-पलंग पर बैठना, गृहान्तर निषद्या - भिक्षा ग्रहण करते समय गृहस्थ के घर पर बैठना, गात्र उद्वर्तन-उबटन करना, गृहि-वैयावृत्य- गृहस्थ को भोजन का संविभाग देना, गृहस्थ की सेवा करना, आजीववृत्तिता-जाति, कुल, गण, शिल्प और कर्म का अवलम्बन ले भिक्षा प्राप्त करना, तप्तानिर्वृतभोजित्व-अर्द्धपक्व सजीव वस्तु का उपभोग करना, आतुरस्मरण-आतुर दशा में भुक्त भोगों का स्मरण करना, अनिर्वृत मूलक-सजीव मूली, अनिर्वृत शृंगबेर-सजीव अदरक, अनिर्वृत इक्षुखण्ड-सजीव इक्षुखंड, सचित्त कंद-सजीव कंद, सचित्त मूल-सजीव मूल, आमल फल-अपक्व फल और आमक बीज-अपक्व बीज लेना व खाना।

आमक सौवर्चल-अपक्व सौवर्चल नमक, सैन्धव-अपक्व सैन्धवनमक, रुमालवण-अपक्व रुमानमक, सामुद्र-अपक्व सामुद्रनमक, पांशुक्षार-अपक्व ऊषर भूमि का नमक और काला लवण-अपक्व कृष्णनमक लेना व खाना।

धूमनेत्र-धूम्रपान की नलिका रखना, वमन-रोग की संभावना से बचने के लिए ; रूप-बल आदि को बनाए रखने के लिए वमन करना, वस्तिकर्म-अपानमार्ग से तेल आदि चढ़ाना और विरेचन करना, अंजन-आँखों में अंजन आँजना, दंतवण-दाँतों को दातौन से घिसना, गात्र-अभ्यंग-शरीर में तैल मर्दन करना, विभूषण-शरीर को अलंकृत करना।

जो संयम में लीन और वायु की तरह मुक्त विहारी महर्षि निर्ग्रन्थ हैं, उनके लिए ये सब अनाचीर्ण है। पांच आश्रवों का निरोध करने वाले, तीन गुप्तियों से गुप्त, छः प्रकार के जीवों के प्रति संयत, पाँचों इन्द्रियों का निग्रह करने वाले, धीर, निर्ग्रन्थ ऋजुदर्शी होते हैं। सुसमाहित निर्ग्रन्थ ग्रीष्म में सूर्य की आतापना लेते हैं, हेमन्त में खुले बदन रहते हैं और वर्षा में प्रतिसंलीन होते हैं, अर्थात्-एक स्थान में रहते हैं। परीषहरूपी रिपुओं का दमन करने वाले, धुत मोह (अज्ञान को प्रकंपित करने वाले), जितेन्द्रिय महर्षि सर्व दुःखों के प्रहाण-नाश के लिए पराक्रम करते हैं। दुष्कर को करते हुए और दुःसह को सहते हुए उन निर्ग्रन्थों में से कई देवलोक जाते हैं और कई नीरज-कर्म रहित हो सिद्ध होते हैं। स्व और पर के त्राता निर्ग्रन्थ संयम और तप द्वारा पूर्व संचित कर्मों का क्षय कर सिद्धि-मार्ग को प्राप्त कर परिनिर्वृत मुक्त होते हैं - ऐसा मैं कहता हूँ।“

इसमें उद्देश और नियम-ग्रहण दोनों समाहित हैं। फिर वह नवदीक्षित “सर्वविरति-सामायिक-आरोपण हेतु मैं कायोत्सर्ग करता हूँ“ - ऐसा कहकर एवं अन्नत्थसूत्र बोलकर कायोत्सर्ग करे। कायोत्सर्ग में चार बार चतुर्विंशतिस्तव का चिन्तन करे कायोत्सर्ग पूर्ण करके प्रकट में चतुर्विंशतिस्तव बोले। तत्पश्चात्-“अखिल विश्व का कल्याण हो, सभी प्राणी परोपकार में तत्पर बनें, व्याधि, दुःख, दौर्मनस्य आदि दोषों का नाश हो और सम्पूर्ण लोक सुखी हो, सर्व मंगलों में मंगलरूप,

सबका कल्याण करने वाला और सर्वधर्मों में श्रेष्ठ-ऐसा जिनशासन सदा विजयी हो।“

इसी प्रकार जिनकल्पी प्रव्रज्या विधान में भी लग्न के आने पर चैत्यवंदन, वेष अर्पण, सामायिक-दण्डक का उच्चारण और कायोत्सर्ग करवाए। पुनः अतीत के पापों का परित्याग कर सामायिक ग्रहण करे, तीन प्रदक्षिणा दे। फिर गुरु वासक्षेप प्रदान करे और कायोत्सर्ग करे। यहाँ जिनकल्पियों की दीक्षा में इतनी विधि विशेष है कि-मुण्डन के स्थान पर संपूर्ण लोच करते हैं, मुण्डन नहीं करवाते हैं। वेश ग्रहण में मात्र तृण का एक वस्त्र धारण करते हैं तथा चमरी की पूँछ या मोरपंखों से निर्मित रजोहरण ग्रहण करते हैं। शेष उपस्थापना-योग का उद्वहन आदि सब पूर्व में कहे गए अनुसार ही करते हैं। संघट्टदान, संघट्टप्रतिक्रमण गृहस्थ के घर में करते हैं तथा पाणि-पात्र, अर्थात् हाथ की अंजली में ही भोजन करते हैं।

शेष सर्व विधि पूर्ववत् ही होती है।

इस प्रकार वर्धमानसूरि विरचित आचारदिनकर में यतिधर्म के उत्तरायण में प्रव्रज्या-कीर्तन नामक उन्नीसवाँ उदय समाप्त होता है।

-----००-----

!! बीसवाँ उदय !!

उपस्थापना-विधि

इस लोक में स्वयंबुद्ध अरहंत परमात्मा भी सामायिक-चारित्र को स्वीकार करके यतिधर्म की प्रव्रज्या ग्रहण करते हैं। वे बुद्ध-बोधित नहीं होते हैं और पंचमहाव्रत उच्चारण रूप उपस्थापना से रहित होते हैं, अर्थात् छेदोपस्थापन-चारित्र ग्रहण नहीं करते हैं। छेदोपस्थापन-चारित्र ग्रहण की विधि आगे वर्णित है -

सबसे पहले नंदी-विधि सहित आवश्यकसूत्र, दशवैकालिकसूत्र के योगोद्धहन कराएं। फिर मण्डली-प्रवेश एवं योगोद्धहन के मध्य दशवैकालिक के तीन अध्ययन के तीन आयम्बिल होने पर नंदी एवं उपस्थापना विधि करे। आवश्यक, दशवैकालिक एवं मण्डली प्रवेश के योग की विधि योगोद्धहन-अधिकार में बताई गई है। उपस्थापना की विधि निम्नांकित है - उपस्थापन तिथि, वार, नक्षत्र, लग्न आदि का विचार प्रव्रज्या के मुहूर्त के समान ही करे। इस हेतु शिष्य के लिए वस्त्र, संस्तरक, मुखवस्त्रिका, रजोहरण, पात्र आदि सब नए लें। फिर चैत्य में या उपाश्रय में समवसरण की स्थापना करके गुरु शिष्य को तीन बार परमेष्ठी-मंत्र का उच्चारण कराकर पूर्व की भाँति समवसरण की तीन प्रदक्षिणा कराए। फिर वासक्षेप को अभिमंत्रित करे। तत्पश्चात् शिष्य खमासमणासूत्रपूर्वक वंदन करके कहे - “इच्छापूर्वक आप मुझे महाव्रतों के आरोपणार्थ एवं नंदी-क्रिया करने के लिए वासक्षेप करे और चैत्यवंदन कराएं।” गुरु वासक्षेप करके पूर्व की भाँति शिष्य से स्तुतिसहित चैत्यवंदन करवाए। श्रुतदेवता आदि के कायोत्सर्ग एवं स्तुतियाँ पूर्व की भाँति ही की जाती हैं। फिर तीन बार नंदी-सूत्र का निम्न पाठ बोले -

“ज्ञान पाँच प्रकार के कहे गए हैं। वे इस प्रकार हैं -आभिनिबोधिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान एवं केवलज्ञान। इनमें से चार ज्ञान मात्र जानने से सम्बन्धित हैं, वें उद्देश, समुद्देश से सम्बन्धित नहीं हैं और न ही उनकी अनुज्ञा होती है, किन्तु श्रुतज्ञान का उद्देश, समुद्देश, अनुज्ञा और अनुयोग होता है। अंग प्रविष्ट

आगमों का उद्देश, समुद्देश, अनुज्ञा और अनुयोग प्रवर्तन होता है, इसी प्रकार अंगबाह्य ग्रंथों का भी उद्देश, समुद्देश, अनुज्ञा और अनुयोग होता है और आवश्यक व्यतिरिक्त का भी उद्देश, समुद्देश, अनुज्ञा और अनुयोग होता है। इसमें भी आवश्यक का उद्देश, समुद्देश, अनुज्ञा और अनुयोग विशिष्ट कहा गया है। वह इस प्रकार है - सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वंदन, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग और प्रत्याख्यान - इन सबके उद्देश, समुद्देश, अनुज्ञा और अनुयोग होते हैं। आवश्यक व्यतिरिक्त का उद्देश, समुद्देश, अनुज्ञा और अनुयोग होता है। इसमें भी कालिक का उद्देश, समुद्देश, अनुज्ञा और अनुयोग होता है और उत्कालिक का भी उद्देश, समुद्देश, अनुज्ञा और अनुयोग होता है। कालिक विशेष का उद्देश, समुद्देश, अनुज्ञा और अनुयोग होता है। उत्कालिक का जो उद्देश, समुद्देश, अनुज्ञा और अनुयोग होता है, वह निम्न प्रकार का है -

दशवैकालिक, कल्पाकल्प, चुल्लकल्पश्रुत, महाकल्पसूत्र, औपपातिक, राजप्रशनीय, जीवाजीवाभिगम, प्रज्ञापना, महाप्रज्ञापना, नंदी, विद्याचारण विनिश्चय, विहारकल्प, मरणविभक्ति, वीतरागश्रुत, ध्यानविभक्ति, आत्मविशुद्धि, चरणविशुद्धि (विधि), प्रमादाप्रमाद, आतुरप्रत्याख्यान, महाप्रत्याख्यान - इन सबके उद्देश, समुद्देश, अनुज्ञा और अनुयोग होते हैं। पुनः कालिक का उद्देश, समुद्देश, अनुज्ञा और अनुयोग इस प्रकार का है -

उत्तराध्ययन, दशाश्रुतस्कन्ध, कल्प-बृहत्कल्प, व्यवहार, निशीथ, महानिशीथ, ऋषिभाषित, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, विमानप्रविभक्ति, महल्लिकाविमानप्रविभक्ति, अंगचूलिका, वर्गचूलिका, विवाहचूलिका, अरुणोपपात, धरणोपपात, वैश्रमणोपपात, देवेन्द्रोपपात, उत्थानश्रुत, समुत्थानश्रुत, नागपरिज्ञापनिका, निरयावलिका, कल्पिका, कल्पावंतसिका, पुष्पिता, पुष्पचूलिका, वृष्णिदशा - इन सबके उद्देश, समुद्देश, अनुज्ञा और अनुयोग होते हैं।

अंग-प्रविष्ट का उद्देश, समुद्देश, अनुज्ञा और अनुयोग किस प्रकार का है - आचारांग, सूत्रकृतांग, स्थानांग, व्याख्याप्रज्ञप्ति, ज्ञाताधर्मकथा, उपासकदशांग, अन्तकृतदशांग, अनुत्तरौपपातिकदशांग, प्रश्नव्याकरण, विपाकसूत्र, दृष्टिवाद - इन सबका उद्देश, समुद्देश,

अनुज्ञा और अनुयोग का प्रवर्तन होता है। पुनः इनके स्वयं पढ़ने और पढ़ाने का उद्देश, समुद्देश, अनुज्ञा और अनुयोग होता है।

यहाँ खमासमणासूत्र से वंदन करके शिष्य कहे - “क्षमाश्रमण के हाथों से प्राप्त सूत्र, अर्थ, सूत्र और अर्थ दोनों को मैं अनुज्ञात करता हूँ, मैं अनुज्ञात करता हूँ।”

फिर गुरु और शिष्य महाव्रत के आरोपणार्थ पूर्ववत् कायोत्सर्ग की क्रिया करे। तत्पश्चात् खड़े होकर गुरु और शिष्य तीन बार परमेष्ठी-मंत्र बोलें, तत्पश्चात् गुरु हाथ जोड़कर दोनों हाथों के ऊपर ओघा रखकर बाएँ हाथ की अनामिका की सहायता से मुखवस्त्रिका को ग्रहण कर, उस शिष्य को, जो हाथ जोड़कर मुखवस्त्रिका एवं रजोहरण को धारण किए हुए है, एक-एक करके रात्रिभोजन परित्यागव्रत सहित पाँचों महाव्रतों का तीन-तीन बार उच्चारण कराए। पाँचो महाव्रत और रात्रि-भोजन के प्रत्याख्यान इस प्रकार हैं :-

“हे भगवन् ! पहले महाव्रत में प्राणातिपात का त्याग करता हूँ। हे भगवन् ! मैं सभी प्रकार के प्राणातिपात का प्रत्याख्यान करता हूँ। सूक्ष्म या स्थूल (बादर), त्रस या स्थावर, जो भी प्राणी हैं, उनके प्राणों का अतिपात न. तो स्वयं करूँगा, न दूसरों से प्राणातिपात कराऊँगा और न प्राणातिपात करने वालों का अनुमोदन करूँगा। यह प्रतिज्ञा मैं यावज्जीवन के लिए तीन करण एवं तीन योग से करता हूँ, अर्थात् मैं मन से, वचन से और काया से (प्राणातिपात) स्वयं न ही करूँगा, न दूसरों से करवाऊँगा, और न अन्य किसी करने वाले का अनुमोदन करूँगा। हे भगवन् ! मैं अतीत में किए गए प्राणातिपात से विरत होता हूँ, उसकी निन्दा करता हूँ, गर्हा करता हूँ एवं उसके प्रति ममत्व का त्याग करता हूँ।” - इसका तीन बार उच्चारण करे

“हे भगवन् ! मैं प्रथम महाव्रत की साधना के लिए तत्पर हुआ हूँ। इसमें सर्व प्रकार के प्राणातिपात से विरत होना होता है।”

पुनः “हे भगवन् ! द्वितीय महाव्रत में मृषावाद का परित्याग करता हूँ। हे भगवन् ! मैं सब प्रकार के मृषावाद का प्रत्याख्यान करता हूँ। क्रोध से, लोभ से, भय से, या हास्य से न स्वयं असत्य बोलना, न दूसरों से असत्य बोलवाना और न असत्य बोलने वालों का अनुमोदन करना - यह प्रतिज्ञा मैं यावज्जीवन के लिए तीन करण एवं

तीन योग से करता हूँ, अर्थात् मैं मन से, वचन से, काया से (मृषावाद) न स्वयं बोलूंगा, न दूसरों से असत्य बुलवाऊंगा और न असत्य बोलने वाले का अनुमोदन करूंगा।”

“हे भगवन् ! मैं अतीत में किए हुए मृषावाद से निवृत्त होता हूँ। उसकी निन्दा करता हूँ, गर्हा करता हूँ एवं उसके प्रति अपने ममत्व का त्याग करता हूँ।” इस सत्यव्रत का तीन बार उच्चारण करे, “हे भगवन् ! इस प्रकार मैं द्वितीय महाव्रत की साधना के लिए उपस्थित हुआ हूँ।” इसमें सर्व-मृषावाद से विरत होना होता है।

पुनः “हे भगवन् ! मैं तृतीय महाव्रत में अदत्तादान से विरत होता हूँ। हे भगवन् ! मैं सर्व प्रकार के अदत्तादान का प्रत्याख्यान करता हूँ। जैसे कि - गाँव में, नगर में, या अरण्य में (कहीं भी) वस्तु अल्प हो या बहुत, सूक्ष्म हो या स्थूल, सचित्त हो या अचित्त (किसी भी) वस्तु को बिना दिए न स्वयं ग्रहण करना, न दूसरों से अदत्त वस्तु का ग्रहण करवाना और न अदत्त वस्तु का ग्रहण करने वाले किसी व्यक्ति का अनुमोदन करना - यह प्रतिज्ञा मैं यावज्जीवन के लिए तीन करण एवं तीन योग से करता हूँ अर्थात् मैं मन से, वचन से और काया से न तो स्वयं अदत्त वस्तु को ग्रहण ही करूंगा, न दूसरों से करवाऊंगा और न ग्रहण करने वाले अन्य किसी व्यक्ति का अनुमोदन ही करूंगा।”

“हे भगवन् ! मैं अतीत में गृहीत अदत्तादान से निवृत्त होता हूँ, उसकी निन्दा करता हूँ, गर्हा करता हूँ एवं उसके प्रति ममत्ववृत्ति का त्याग करता हूँ।” इस महाव्रत की प्रतिज्ञा का भी तीन बार उच्चारण करे।

“हे भगवन् ! मैं तृतीय महाव्रत-साधना के लिए उपस्थित हुआ हूँ, इसमें सर्व प्रकार के अदत्तादान से विरत होना होता है।”

इसके पश्चात् “हे भगवन् ! चतुर्थ महाव्रत में मैथुन से निवृत्त होना होता है। मैं सब प्रकार के मैथुन का प्रत्याख्यान करता हूँ। चाहे वह देव सम्बन्धी हो, मनुष्य सम्बन्धी हो अथवा तिर्यच से सम्बन्धित हो, मैथुन का न स्वयं सेवन करना, न दूसरों से कराना, न सेवन करने वालों का अनुमोदन करना, यह प्रतिज्ञा मैं यावज्जीवन के लिए तीन करण एवं तीन योग से करता हूँ, अर्थात् मैं मन से, वचन

से और काया से न स्वयं मैथुन-सेवन करूंगा, न करवाऊंगा और न अन्य किसी मैथुन-सेवन करने वाले का अनुमोदन करूंगा।”

“हे भगवन् ! मैं अतीतकाल में किए गए मैथुनकर्म से निवृत्त होता हूँ, उसकी निंदा करता हूँ, गर्हा करता हूँ एवं उसके प्रति अपनी ममत्ववृत्ति का त्याग करता हूँ।” इस ब्रह्मचर्यव्रत का तीन बार उच्चारण, अर्थात् प्रतिज्ञा करे।

“हे भगवन् ! मैं चतुर्थ महाव्रत की साधना के लिए तत्पर हुआ हूँ। इसमें सब प्रकार के मैथुन-सेवन से विरत होना होता है।”

इसके पश्चात् “हे भगवन् ! पंचम महाव्रत में परिग्रह से विरत होना होता है। मैं सब प्रकार के परिग्रह का प्रत्याख्यान करता हूँ। जैसे कि - गाँव में, नगर में, या अरण्य में, अर्थात् कहीं भी, चाहे अल्प हो या बहुत, सूक्ष्म हो या स्थूल, सचित्त हो या अचित्त, किसी प्रकार के परिग्रह का न तो स्वयं ग्रहण करना, न दूसरों से परिग्रह का ग्रहण कराना और न ही परिग्रहण करने वाले अन्य किसी का अनुमोदन करना। परिग्रहत्याग की यह प्रतिज्ञा मैं यावज्जीवन के लिए तीन करण और तीन योग से करता हूँ, अर्थात् मैं मन से, वचन से और काया से न तो परिग्रह का ग्रहण करूंगा, न करवाऊंगा और न किसी करने वाले का अनुमोदन करूंगा।”

“हे भगवन् ! मैं अतीत में गृहीत परिग्रह से निवृत्त होता हूँ। मेरी उस प्रवृत्ति की मैं निंदा करता हूँ, गर्हा करता हूँ एवं उसके प्रति अपनी ममत्ववृत्ति का त्याग करता हूँ।” इस प्रतिज्ञा का तीन बार उच्चारण करे।

“हे भगवन् ! मैं परिग्रह-त्याग रूप पंचम महाव्रत की साधना के लिए तत्पर हुआ हूँ। इसमें सब प्रकार के परिग्रह से विरत होना होता है।”

इसके पश्चात् “हे भगवन् ! छठें व्रत में रात्रि-भोजन से विरत होना होता है। हे भगवन् ! मैं सब प्रकार के रात्रि-भोजन का प्रत्याख्यान करता हूँ। जैसे कि - अशन, पान, खाद्य एवं स्वाद्यरूप किसी भी वस्तु का न रात्रि में स्वयं उपयोग करना, न दूसरों को रात्रि भोजन कराना और न रात्रि में उपभोग करने वाले किसी व्यक्ति का अनुमोदन करना। यह प्रतिज्ञा मैं यावज्जीवन के लिए तीन करण

एवं तीन योग से करता हूँ, अर्थात् मैं मन से, वचन से, काया से न तो स्वयं रात्रि भोजन करूंगा, न करवाऊंगा और न किसी रात्रि भोजन करने वाले का अनुमोदन करूंगा।“

“हे भगवन् ! मैं अतीत में किए गए रात्रि भोजन से निवृत्त होता हूँ। उसकी निंदा करता हूँ, गर्हा करता हूँ एवं उसके प्रति ममत्ववृत्ति का त्याग करता हूँ।“ यह प्रतिज्ञा तीन बार करे “हे भगवन् ! मैं छटें व्रत की साधना के लिए उपस्थित हुआ हूँ। इसमें सब प्रकार के रात्रि भोजन से विरत होना होता है।“

फिर लग्नवेला के आने पर निम्न गाथा को तीन बार उच्चारित करे - “इस प्रकार मैं इन पाँच महाव्रतों और छटे रात्रि-भोजन विरमण-व्रत को आत्महित के लिए अंगीकार करके उपसम्पदा ग्रहण करता हूँ।“

तत्पश्चात् गुरु पुनः वासक्षेप आदि अभिमंत्रित करके साधुओं, श्रावकों आदि को दे। फिर शिष्य खमासमणासूत्र से वंदन करके कहे - “हे भगवन् ! आप इच्छापूर्वक मुझे महाव्रतादि का आरोपण कराएं।“ इस प्रकार खमासमणासूत्रपूर्वक वंदन कर गुरु-शिष्य के कथन पूर्व में कही गई महाव्रतों की आरोपण-विधि के अनुसार ही करे। अन्त में खमासमणासूत्र से वंदन करने के पश्चात् साधु-साध्वी आदि शिष्य के सिर पर वासक्षेप और अक्षत डालें। तत्पश्चात् “आरोपण किए गए पंचमहाव्रतों में स्थिर होने के लिए मैं कायोत्सर्ग करता हूँ।“ - ऐसा कहकर अन्नत्थसूत्र बोलकर कायोत्सर्ग करे। कायोत्सर्ग में चतुर्विंशतिस्तव का चिन्तन करे। कायोत्सर्ग पूर्ण करके, प्रकट रूप में चतुर्विंशतिस्तव बोले। फिर बैठकर शक्रस्तव का पाठ करे। तत्पश्चात् शिष्य गुरु की तीन प्रदक्षिणा करके वन्दन करे। इसी प्रकार अन्य निर्ग्रन्थ साधुओं को भी उनके दीक्षा पर्याय के क्रम से वन्दन करे। तत्पश्चात् यहाँ उसके आचार्य, उपाध्याय आदि की नियुक्ति की जाती है। इसी उपस्थापना-विधि द्वारा साध्वी का भी महाव्रतारोपण करे तथा यहाँ उसकी महत्तरा, प्रवर्तिनी आदि की नियुक्ति करे।

इसके बाद नव उपस्थापित शिष्य के गण, कुल, शाखा, आचार्य, उपाध्याय एवं नाम की उद्घोषणा करे। जैसे - कोटिकादि

गण, ब्रजादिक शाखा, चान्द्रादिक कुल, अमुक आचार्य एवं अमुक उपाध्याय का यह अमुक नाम वाला शिष्य है। इसी प्रकार साध्वी की उपस्थापना के समय उसकी प्रवर्तिनी एवं महत्तरा के नाम का उच्चारण करे। जिस दिन उपस्थापित हो उस दिन वह आयम्बिल करे और उसके पश्चात् भी चार आयम्बिल करे।

इसके पश्चात् सातमण्डली में प्रवेश करने के लिए सात आयम्बिल किए जाते हैं। सातमण्डली इस प्रकार है - १. सूत्रमण्डली २. अर्थमण्डली ३. भोजनमण्डली ४. कालमण्डली ५. आवश्यक-मण्डली ६. सञ्ज्ञायमण्डली और ७. संधारामण्डली - ये सात मंडली होती हैं। इस क्रम से आयम्बिल करने पर शिष्य को पूर्व साधुओं के साथ मण्डली में प्रवेश दिया जाता है। इसके साथ ही आवश्यक एवं दशवैकालिक सूत्र का अध्ययन कराया जाता है। दशवैकालिक के योगोद्धहन (तपस्या) करने पर दशवैकालिक का अध्ययन कराए। अल्पबुद्धि वाले शिष्य की भी दशवैकालिक के चार अध्ययनों के अध्ययन के बिना उपस्थापना नहीं होती है।

इस प्रकार वर्धमानसूरि विरचित आचारदिनकर में यतिधर्म के उत्तरायण में उपस्थापना-कीर्तन नामक बीसवाँ उदय समाप्त होता है।

-----००-----

// इक्कीसवाँ उदय //

योगोद्वहन-विधि

मन, वचन और काया की समाधिरूप तप साधना से योजित होने को योग कहते हैं अथवा आगम या सिद्धांत-ग्रन्थों की वाचना (अध्ययन) के हेतु अन्यत्र उल्लेखित विधि के अनुसार तत्सम्बन्धी तप-साधना से आत्मा को जोड़ना योग है। आगम-ग्रन्थों का क्रमिक अध्ययन (उद्वहन) अनेक प्रकार से होता है। उनके अध्ययन हेतु तप, कायोत्सर्ग पारण-विधि, कालग्रहण एवं स्वाध्याय आदि को निर्धारित क्रम से करना योगोद्वहन है। किस प्रकार के गुणों से युक्त साधु योगोद्वहन के योग्य होता है एवं किस प्रकार के गुणों से युक्त गुरु योगोद्वहन करवा सकता है और योगोद्वहन में किस प्रकार के साधु सहायक होते हैं ? इन सब का विचार इस योगोद्वहनविधि में किया गया है। कार्य को करने वाला, उसके निमित्त या सहायक और उसकी विधि का स्वरूप यहाँ क्रमशः निर्देशित किया गया है। योगोद्वहन करने वाला योगवाही कार्य का कर्ता होता है। योगोद्वहन के निमित्त कारण होते हैं - गुरु, सहायकसाधु क्षेत्र, उपकरण, कालग्रहण, भिक्षाग्रहण आदि। इसी क्रम से यहाँ योगवाही आदि की व्याख्या की जा रही है।

योगवाही के लक्षण -

मौनी, परीषह को सहन करने में समर्थ, क्रोध, मान, माया और लोभ से रहित, बलवान्, राजा और रंक अथवा शत्रु और मित्र में समभाव रखने वाला, मन-वचन-काया से गुरु एवं मुनिजनों की प्रसन्नतापूर्वक भक्ति करने वाला, कुशल, दयालु, श्रुतशास्त्र के कल्याणकारी वचन जिसने सुने हो, पापकार्यों के प्रति जिसके मन में लज्जा का भाव हो, वैराग्यवासित तथा बुद्धिमान हो, तृषा और निद्रा पर जिसने विजय प्राप्त कर ली हो, जो अस्खलित रूप से ब्रह्मचर्य का पालन करने वाला हो, प्रायश्चित्त के द्वारा जिसने पापकर्मों का विनाश कर दिया हो, जो बाह्य और आभ्यन्तर रूप से रसलोलुप न हो, जिसने कषाय आदि अन्तरंग शत्रुओं को पूर्णरूपेण जीत लिया हो,

जो दुष्कृत्यों का त्यागी हो - ऐसा मुनि योगोद्धहन के योग्य माना गया है।

योगोद्धहन कराने वाले गुरु (आचार्य, उपाध्याय, गणी आदि) के लक्षण इस प्रकार से हैं :- शान्त, दयालु, अशठ, मधुरभाषी, आचार्य के छत्तीस गुणों से युक्त, आर्जव-मार्दव आदि दस यतिधर्मों से युक्त, योगोद्धहन से निपुण सम्यक् अवसर को जानने वाला, अर्थात् अवसरज्ञ, परमार्थ को जानने वाला, कुशल, निद्रा, आलस्य, मोह, मद एवं माया को जीतने वाला तथा प्रसन्न चित्तवाला गुरु शिष्य को योगोद्धहन कराने के योग्य होता है।

योगोद्धहन में सहायक साधु के लक्षण इस प्रकार हैं :- निद्रा एवं आलस्य को जीतने वाला, उत्साहित करने वाला, स्नेहवान्, (गुणानुरागी) गुणों में रत, उद्यमवान्, दयावान्, विषय-कषाय रूप शत्रुओं को जीतने वाला, अनेक आगमों का ज्ञाता, बहुत सत्त्वशाली, अनेक कलाओं में पारंगत, निर्मल एवं प्रसन्न चित्त वाला सहायक-साधु योगोद्धहन के लिए उपयुक्त कहा गया है। अब यहाँ सहायक-साधु के लक्षण बताते हैं :- दण्ड धारण करने वाला (दण्डधारी), समुदाय, वारणा, अर्थात् रोकने वाला, भिक्षा-प्रमुख, सर्वस्मृतिकार, शब्दरूप धर्मदेशना (ये सब सहायक हैं)।

क्षेत्र का लक्षण इस प्रकार है - बहुत पानी हो, भिक्षा सरलता से मिलती हो, स्वचक्र-परचक्र के भय से पूर्णतः मुक्त हो, बहुत से साधु-साध्वी, श्रावकों एवं शास्त्र-विशारदों से आकीर्ण हो, नीर्दोष जल और अन्न से युक्त हो। अस्थि, चर्म आदि से विशेष रूप से रहित हो। सर्प, केंकड़ा, सियाल, छिपकली, मच्छर एवं वृषभ से रहित हों। प्रायः मार्ग साफ-सुथरे हों तथा रोग-मारि से भी हमेशा मुक्त हों, नगर के लोग अल्पकषाय वाले हों, ऐसा क्षेत्र योगोद्धहन के लिए शुभ है। वसति का लक्षण इस प्रकार है - वसति चर्म, अस्थि, दन्त, नख, केश, मल-मूत्र आदि की अपवित्रता से रहित हो, नीचे और ऊपर का भाग छिद्ररहित हो। स्थान शान्ति प्रदान करने वाला, समतल और स्वच्छ छवि वाला हो। योगवाही को सूक्ष्म अंगों वाले जीवों के समूह से युक्त, सर्वत्र दरार वाले आवास वर्जित है। रम्य

और दूसरे के लिए बनाए गए आवास ही योगोद्धहन के लिए अच्छे माने जाते हैं।

मल उत्सर्ग करने के लिए स्थण्डिल भूमि इस प्रकार की होनी चाहिए - निर्जन, अर्थात् लोगों के आवागमन से रहित हो, जीव-जन्तुओं की उत्पत्ति से भी रहित, अर्थात् निर्जीव हो, जल, वनस्पति, तृण, सर्प के बिल से और सूक्ष्म बीजादि से रहित हो - ऐसी स्थण्डिल भूमि योगवाही को मल-मूत्र विसर्जन हेतु श्रेष्ठ है। योगवाही के उपकरण इस प्रकार के होने चाहिए - मिट्टी, तुम्बी या लकड़ी से निर्मित, रंगे हुए तथा अत्यन्त साफ किए हुए शुद्ध पात्र तथा उसको लपेटने एवं बांधने का वस्त्र भी पर्याप्त, नया और स्वच्छ होना चाहिए। साथ ही नई पात्ररज्जू (पात्रे की डोरी) तथा वस्त्र सहित उत्तम संस्तारक, छोटी पूंजणी और गोल आकार की कालग्रहण की दण्डी, आचारशास्त्र की पुस्तक, नदी, वासक्षेप, समवसरण, प्रासुक जल, जूं आदि से रहित वस्त्र उपकरण योगोद्धहन में अपेक्षित हैं। योगवाही को दाँत के बिना तृप्त करने वाले पेय पदार्थों एवं जल आदि का नित्य प्रथम प्रहर में त्याग करना आवश्यक होता है।

योगोद्धहन का काल इस प्रकार है - जब सुभिक्ष हो, साधुओं को उनकी आवश्यक वस्तुएँ सर्वसुलभ हों और विपत्तियों का अभाव हो, वह काल कालिक एवं उत्कालिक योगों के लिए उचित माना जाता है। आर्द्रा नक्षत्र के प्रारम्भ से स्वाति नक्षत्र के अन्त तक के सूर्य के उदय से युक्त नक्षत्र ही कालिक योगों के लिए उपयोगी कहे गये हैं। आर्द्रा नक्षत्र से लेकर स्वाति नक्षत्र के अन्त तक के नक्षत्रों में सूर्य का उदय न रहने से विद्युत, बादल की गड़गड़ाहट एवं वृष्टि होने की स्थिति में काल-ग्रहण का समय, अर्थात् स्वाध्यायकाल होने पर भी योगोद्धहन नहीं करना चाहिए।

योगोद्धहन की चर्या इस प्रकार है - रात्रि के प्रथम और अन्तिम प्रहर में मुनि को हमेशा जाग्रत रहना चाहिए, परन्तु योगवाही को तो प्रतिक्षण जाग्रत रहना चाहिए। वह हास्य, काम-वासना, विकथा, शोक, रति-अरति का त्याग करे। पच्चीस धनुष परिमाण भूमि से अधिक जाना हो, तो योगवाही मुनि हमेशा अन्य मुनि को साथ लेकर ही जाए, अकेला न जाए। सौ धनुष भूमि के आगे जाने पर

प्रायश्चित्त के रूप में मुनि को आयम्बिल करना चाहिए। योगवाही को सिलाई, लेप करना तथा उपधि बनाने आदि कार्यों का भी त्याग करना चाहिए। सभी योगों में और विशेष रूप से आगाढ़ योगों में भी योगवाही को ये कार्य नहीं करने चाहिए। वह तांबा, सीसा, कास्य, लोहा, रांगा, रोम, नख, चर्म आदि का स्पर्श न करे और स्पर्श होने पर कायोत्सर्ग करे। इन धातुओं का स्पर्श न हो तो भी दिन में एक बार “दंत-ओहडावणीयं करेमि काउसर्गं” इस नाम से कायोत्सर्ग करे। कायोत्सर्ग में मुनि को एक बार नमस्कार मंत्र का स्मरण करना चाहिए। योगोद्धहन के मध्य केश, रोम, नख आदि का कायोत्सर्ग नहीं करना चाहिए। सुबह के कायोत्सर्ग में भी यही विधि करनी चाहिए।

प्रथम मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना करके द्वादशावर्तवन्दन करे। वन्दन करके फिर केश, रोम आदि का त्याग करे। उसके पश्चात् पूर्व में कही गई विधि के अनुसार कायोत्सर्ग करे। योगवाही प्रतिदिन हाथ जोड़कर रात्रिक एवं प्रातःकालीन प्रतिक्रमण के अन्त में नवकारसी का प्रत्याख्यान करे। नियमित रूप से नवीन पाठ का अध्ययन करे और पूर्व में पठित पाठ का विस्मरण न करे। उपधि, पात्र-बन्ध आदि की दो बार प्रतिलेखना करे। अल्प बोले, व्यंगात्मक शब्दों तथा काम, क्रोध आदि का त्याग करे। दृढ़तापूर्वक, पंचमहाव्रत का पालन करे संघ या समुदाय का विरोध न करे। समय पर शुद्ध अन्न-पानी, वस्त्र और पात्र ग्रहण करे। पात्र में रहे हुए अन्न को न तो झूठा छोड़े और न वमन आदि करे। संस्तारक वस्त्र एवं आसन का अल्प मात्रा में परिग्रहण करे। अत्यन्त सावधानीपूर्वक कालग्रहण करके स्वाध्याय करे, अर्थात् स्वाध्याय में समय ध्यान रखें। अकाल में स्वाध्याय और कालग्रहण न करे असमय में अर्थात् रात्रिकाल में मल का उत्सर्ग न करे। अकृत योगी के द्वारा लाया हुआ आहार-पानी ग्रहण नहीं करे। उनका संघट्टा (साथ-साथ भिक्षाचर्या आदि) नहीं करे और न उनके पाट, शय्या एवं आसन आदि का आश्रय ले। साथ ही उनके द्वारा वस्त्र और शय्या का प्रतिलेखन भी नहीं करवाएँ।

शरीर की चिकित्सा (रोग निर्मूलन उपाय) न करे और न अन्य से करवाए। वर्षा एवं महावायु के समय भिक्षा आदि के लिए न जाए। सभी प्रकार के योगों में सामान्यतः यही चर्या बताई गई है।

अब भगवतीसूत्र के योग की चर्या बताते हैं - बलि के लिए, अर्थात् देवी-देवता को समर्पित करने के लिए बनाया गया आहार, गर्हित आहार एवं मृतक्रिया के आहार का, अर्थात् मृत्युभोज का अति सावधानीपूर्वक त्याग करें। देवता आदि को समर्पित पात्र से संस्पर्शित आहार और उस आहार से संस्पर्शित अन्य आहार भी योगवाही को कल्प्य नहीं होता है। इसी प्रकार विकृति से संस्पर्शित एवं विकृतियुक्त आहार योगवाही के लिए कल्प्य नहीं होता है। अकृत योगी के साथ नगर से बाहर जाकर मल का उत्सर्ग आदि क्रियाएँ न करें और भिक्षा के समय भी उनके साथ गोचरी न जाए।

गुरु के आदेश बिना उपधि की, अर्थात् मुनिजीवन की आवश्यक सामग्री से विभूषा न करें। पके हुए भोजन के अतिरिक्त विकृति को हाथ में ग्रहण करके भी यदि कोई भिक्षा दे, तो गणियोग का वहन करने वाला साधक वह भिक्षा ग्रहण न करे। गीले शरीर वाले, कुत्ते, बिल्ली, मांस का भक्षण करने वाले पक्षी एवं बछड़े का संस्पर्श करते हुए भी कोई भिक्षा दे, तो वह भिक्षा भी ग्रहण न करे। इसी प्रकार अन्य गीले चमड़े का, हाथी, घोड़े, गधे आदि का संस्पर्श मात्र होने पर भी भिक्षा न ले। यदि नपुंसक, या वेश्या के हाथ दूध, तेल, घी से युक्त हों, तो उनका स्पर्श न करें और उनसे स्पर्शित भिक्षा का यतनापूर्वक वर्जन करें। उसी दिन के मक्खन से युक्त काजल को आँखों में लगाकर यदि कोई भिक्षा दे, तो उसे ग्रहण न करें। यदि वह काजल अन्य दिनों का, अर्थात् दो-तीन दिन का हो, तो भिक्षा ग्रहण की जा सकती है। यदि दाता स्त्री ने पुराने मक्खन को शरीर पर लगाकर उसी दिन अंजन किया हो, तो उसके हाथ से भोजन-पानी ग्रहण न करें। यदि कोई द्रव्य अकल्प्य द्रव्य से संस्पर्शित हो, तो उस दिन सर्व अकल्पित हो जाता है। दूसरे दिन भी ज्योति के बिना वह कल्प्य होता है। स्तनपान कराती हुई स्त्री अपने बालक को स्तनपान छुड़ाकर भिक्षा दे, तो वह भिक्षा लेना योग्य नहीं है। यदि वह स्तनपान नहीं करवा रही हो, तो वह भिक्षा देने योग्य है, अर्थात्

उसके द्वारा दी गई भिक्षा ग्राह्य है। इसी प्रकार गाय, मनुष्य आदि को कोई स्त्री भोजन दे रही हो, तो उस समय उसके हाथ से भिक्षा लेना नहीं कल्पता है इससे अतिरिक्त काल में वह भिक्षा कल्प्य हो सकती हैं। अस्थिर शिला, काष्ठ, पाटे आदि यदि अकल्पित द्रव्य से स्पृष्ट हो, तो उस शिलादि को स्पर्श करना नहीं कल्पता है, किन्तु यदि उनसे स्पृष्ट नहीं है तथा उनसे विहीन है, तो वह भिक्षा लेने योग्य है। यदि कभी भिक्षा के समय शुष्क अस्थि, चर्म, दन्त का स्पर्श हो जाए, तो पूर्व की भाँति कायोत्सर्ग करे। आहार का संग्रह करने से तथा कामातुर कुत्ता, बिल्ली, वृषभ, अश्व, मुर्गा, हाथी एवं नपुंसक तथा आधाकर्मी आहार के संस्पर्श से व्रत का उपघात होता है। इसी प्रकार उन्हें देखने आदि अन्य कारणों से भी व्रत का उपघात होता है। पात्र और उपकरण आदि में कणमात्र अर्थात् भोजन का अंश रहने से भी व्रत का उपघात होता है। सूखे प्रासुक हाथों से भिक्षा का ग्रहण करे। अप्रासुक जल से युक्त होने पर और उसका स्पर्श करने पर आधाकर्म दोष लगता है। व्याख्यान, पाठ, स्तुति आदि गुरु की आज्ञा से करे। साधक सम्यक् प्रकार से अनुप्रेक्षा, अर्थात् चिन्तन करे। एक के ऊपर एक चार पाँच बर्तन रखे हों, या उसी प्रकार कोई बर्तन ऊपर माले आदि पर रखा हो, या नीचे (तलघर) में रखा हो, तो उस बर्तन की वस्तु ग्रहण करने योग्य नहीं है। एक बर्तन के साथ दूसरा बर्तन रखा हो या वे तिर्यक् दिशा में किंचित दूरी पर रखे हुए हों तो उन बर्तनों से आहार ग्रहण करना उत्तम है। दो, तीन बर्तनों से ही भिक्षा ले, अधिक दूरी पर रखे बर्तनों से भिक्षा न ले। सूखा नारियल एवं द्राक्ष डालकर पकाया गया दूध (पायस), थोड़े से चावल

9. ज्योति के बिना इसका अर्थ दीपक बिना ऐसा हो सकता है; स्पष्ट समझ में नहीं आ रहा है। इस अपेक्षा से यदि दीपक न हो तो कल्प्य बन सकता है।

में दूध डालकर पकाई गई खीर, इसी प्रकार कांजी - ये सब उसी दिन के हों, तो लेना कल्पता है, किन्तु तिल का चूर्ण, तिल का पिण्ड, तिल का खोल दूसरे दिन ही लेना कल्पता है।

स्वयं के खाने के लिए गृहस्थों द्वारा डाले गए घी आदि का वर्जन करे। नारियल, घी आदि योगोद्धहन के दिनों के अतिरिक्त अन्य दिनों में लेना कल्पता है। नारियल के टुकड़े और द्राक्षा से युक्त सभी पेय पदार्थ, सौंठ, कालीमिर्च उसी दिन की हो, तो उसे मुनि को लेना कल्प्य है। दधि से युक्त करंब, श्रीखण्ड उसी दिन के बने हों, तो लेना कल्प्य नहीं है, दूसरे दिन मुनियों के लिए वह कल्प्य होता है। छाछ एवं घी (निवियाता घी) में पक्व सब्जी हमेशा कल्प्य हैं और इसी प्रकार भर्जित करके बनाए गए व्यंजन, यदि उनमें ऊपर से घी न डाला गया हो, तो वे सभी भी कल्प्य हैं। इस प्रकार पकाए हुए रसरहित पकवान भी योगवाही मुनियों को कल्प्य हैं। योगवाही को बत्तीस ग्रास से अधिक नहीं खाना चाहिए। योगवाही दिन के प्रथम प्रहर के अन्त में चर्या का प्रतिपादन पवेयणा की क्रिया करे तथा संघट्ट की क्रिया का प्रवेदन करे। द्वितीय प्रहर में योगवाहियों को भिक्षाचर्या करना कल्प्य है। वह निर्भोजित घी, तेल आदि से देह के अवयवों की पुष्टि कर सकता है। उसे वाचनाचार्य से संस्पृष्ट वस्त्र को दो, तीन, चार दिन या अपनी समाधि के अनुसार इससे अधिक दिनों तक पहनना भी कल्प्य है। रात और दिन में परीषह उत्पन्न हो, तो उन परीषहों आदि को समभाव से सहन करे। यदि साध्वियों के साथ योग की क्रिया करनी हो तो साधु को चोलपट्टे का ग्रहण करना आवश्यक हैं। अन्यथा नियम नहीं हैं। किन्तु योगोद्धहन करने वाली व्रतिनी (साध्वी) को वस्त्र धारण करके ही योग की क्रिया करना कल्प्य है। इस प्रकार पूर्व में आगम में जो हेय और उपादेय का विवेचन किया गया हैं, उसे तथा उसके विधान को गुरु-मुख से जानकर उसका शीघ्र ही पालन करें। यदि शिष्य आगम को गुरुमुख के बिना ग्रहण करता है, तो वह महादोष का हेतु हो सकता है तथा इस लोक एवं परलोक-दोनों में दुःख देने वाला होता है। आहार-पानी आदि ग्रहण करने में भी उक्त बातों का ध्यान रखे। कायोत्सर्ग आदि करने में हर समय उसकी विधि का ध्यान रखे। इसी प्रकार भक्तपान आदि भी नियमानुसार ग्रहण करे। साधुओं को ग्रासैषणा के दोषों का परिहार करके भोजन करना चाहिए। यह गणियोग की चर्या, अर्थात् विधान

है। कदाचित् उक्त चर्या-विधान का भंग हो जाता है, तो यहाँ उसकी प्रायश्चित्त विधि बताई जा रही है -

मुनि यदि संस्पर्शरहित भोजन करे या उससे लिप्त अंश खाए, आधाकर्मी, अथवा संगृहीत भोजन खाए, असमय में मल का त्याग करे, स्थान की प्रतिलेखना न करे, उसकी सीमा का अतिक्रमण करे अर्थात् वहाँ से १०० कदम से आगे जाए, या स्थान की सीमा का परिमाण नहीं करे, कषायों का पोषण करे तथा व्रतों का पोषण नहीं करे, अभ्याख्यान, पैशुन्य या परिवाद करे, पुस्तक को जमीन पर रखे या ऐसी ही अन्य क्रियाओं आदि के द्वारा ज्ञान की आशातना करे, रजोहरण, चोलपट्टे को अपने हाथों से जमीन पर न रखकर ऊपर से ही भूमि पर डाल दे या रजोहरण को कमर पर रखे, दोनों समय खड़े होकर आवश्यक क्रिया न करे, या प्रातःकाल स्वाध्याय न करे, उपधि एवं भोजन-भूमि की प्रमार्जना न करे, उद्देश्यावश्यक भूमि, अर्थात् स्वाध्यायभूमि का प्रमादवश प्रमार्जन न करे, तो इन सभी अतिचार के प्रायश्चित्त के रूप में मुनि उपवास करे। इसी प्रकार यदि यति बिना प्रमार्जन किए द्वार आदि खोलता है, तो वह पूर्व से आधा, अर्थात् आयम्बिल का प्रत्याख्यान करे। समय पर आवश्यक क्रिया न की हो, गोचरी भी समय पर नहीं की हो या नैषेधिकी सामाचारी भी न की हो तो उसके प्रायश्चित्त के लिए नीवि करे। छः पैरों से चलने वाले जीवों को पीड़ा दी हो, तो यति एकासना करे। योग-विधान की मर्यादा के भंग होने पर यह प्रायश्चित्त-विधान बताया गया है। कालिक योगों में संस्पर्श (संघट्ट) एवं उक्तमान होता है। उसकी विधि वर्णित की जा रही है।

सर्वप्रथम चर संस्पर्श (संघट्ट) को बताते हैं :-

व्यायाम के लिए और भिक्षा के लिए दूसरे कृतयोगी साधु को साथ लेकर ही जाए, परन्तु अकृत योगी को न ले जाए। अन्य वस्तुओं अर्थात् गाय आदि का स्पर्श न करे। पंचेन्द्रिय जीवों के बीच से एवं दो मुनियों के बीच से निकलते समय उनका संस्पर्श न करे इसी प्रकार लता, वृक्ष आदि जीवनिकाय का स्पर्श भी न करे।

इसी प्रकार वसति में से संघट्ट लेकर निकले। भिक्षाचर्या से आकर ईर्यापथिकी की क्रिया से पापों का नाश करे "हे भगवन् !

जाने में मैंने जो संस्पर्श (संघट्ट) किया है, उसे बताने की मैं अनुज्ञा चाहता हूँ और संघट्टे के अनुज्ञार्थ मैं कायोत्सर्ग करता हूँ”- संघट्टा लेते समय गुरु से योगवाही ऐसा आदेश माँगे -

१. खमासमणासूत्रपूर्वक इच्छाकारेण संदिसह भगवन् ! संघट्ट' संदिसावेमि । गुरु कहे - संदिसावेह ।

२. खमासमणासूत्रपूर्वक इच्छाकारेण संदिसह भगवन् ! संघट्ट करेमि । गुरु कहे - करेह ।

३. इच्छं, संघट्टसंदिसावणत्थं करेमि काउसग्गं ।

- ऐसा कहे तथा 'अन्नत्थसूत्र' बोलकर कायोत्सर्ग करे। कायोत्सर्ग में नमस्कारमंत्र का विशेष चिन्तन करे। फिर प्रकट नमस्कारमंत्र बोले। आने पर योगवाही ईर्यापधिकी के दोषों की आलोचना करके, “इच्छाकारेणसंदिसह भगवन् । संघट्ट पडिक्कमामि । गुरु कहे - पडिक्कमेह । इच्छं संघट्टस्य पडिक्कमणत्थं करेमि काउसग्गं - ऐसा कहकर योगवाही अन्नत्थसूत्र बोले तथा कायोत्सर्ग करे। कायोत्सर्ग में नमस्कार मंत्र का चिन्तन करे, फिर प्रकट में नमस्कारमंत्र बोले। यह चर संस्पर्श (संघट्ट) की विधि है। अब स्थिर संस्पर्श (संघट्ट) की विधि बताई जा रही है -

स्थिर संघट्ट (संस्पर्श) - हाथ, पैर, धर्मध्वज (रजोहरण), पात्र, दोरक (डोरी), झोलिका आदि स्थिरसंस्पर्श (संघट्ट) है और वह बताते हैं :- पहले मुनि ईर्यापधिकी के दोष से पीछे हटकर पात्र, डोरी, झोली आदि पास में लाकर उचित समय पर काष्ट के आसन पर या पादपुच्छन, अर्थात् पैर पोंछने वाले आसन पर बैठे तथा अपने दोनों

टिप्पण :- 'संघट्टा का अर्थ है - गोचरी जिन पात्रों में लेनी हैं, उन सभी पात्रों का प्रतिलेखन तीन-तीन बार करके अपने पास रखे और उन्हीं पात्रों में गोचरी ग्रहण करें।

पैरों के जानु को ऊपर करके बैठे। उसकी विधि यह है :-

मुखवस्त्रिका सहित रजोहरण की दस्सियों को आगे के भाग में धारण करे और रजोहरण को दक्षिण कटि उत्संग में स्थापित करे तथा दक्षिण (दाएँ) हाथ से स्पर्श करे। उसकी यह विधि है- रजोहरण

की दस्सियों के समूह के ऊपर दोनों हाथों को मिलाकर अधोमुख करके स्थापित करे। पुनः हाथों की हथेलियों को उन्नत (आकाश की ओर) करे - इस प्रकार तीन बार करे - यह हस्त संस्पर्श (संघट्ट) है। दोनों पैरों के तलियों को समान करके, अर्थात् मिलाकर रजोहरण से तीन बार प्रमार्जित करे। पुनः दोनों पैरों को मिलाए, तीन बार इसी प्रकार से करे दोनों हाथों को अपने दोनों पैरों के बीच में रखे। दोनो हाथों को बाहर करने से संघट्ट चला जाता है। जानु अन्तराल के बाहर दोनों हाथों से गृहीत वस्तु का संघट्ट होते हुए भी संघट्ट नहीं होता है। दोनों पैरों को नीचे की तरफ फैलाने से और उन्हे पुनः पीछे की तरफ लेने पर संस्पर्श (संघट्ट) होते हुए भी उसे संस्पर्श नहीं कहलाता है। असंस्पर्शित (असंघट्टित) दोनों पैरों को भीतर की तरफ लेकर, अर्थात् जानु की तरफ लेकर पात्रादि का संस्पर्श करने पर भी संस्पर्श नहीं कहलाता है। अतः पूर्व में हाथ और पैर को संघट्टित करने में सावधानी रखनी चाहिए। अकृतयोगी मुनि द्वारा वस्तु और शरीर का संस्पर्श होने पर भी संघट्ट नहीं माना जाता है। आवश्यक, दशवैकालिक, मण्डली-प्रवेश, उत्तराध्ययन, आचारांग, बृहत्कल्प, व्यवहार, दशाश्रुतस्कन्ध के योगोद्धहन करने वालों को कृतयोगी कहा जाता है। इनसे न्यून, अर्थात् कम योगवाहियों को अकृतयोगी कहा जाता है। इसके पश्चात् पात्र केसरिका = पात्र प्रतिलेखन की पूजणी का संस्पर्श (संघट्ट) करे। उसके संस्पर्शन की विधि यह है - दाएँ हाथ में पात्रकेसरिका की डण्डी को पकड़कर बाएँ हाथ से उसके दस्सियों से युक्त भाग को पकड़े। दाएँ हाथ की अंगुली और अंगूठे को घूमाकर उस पात्रकेसरिका को दक्षिणावर्त्त घुमाए, पुनः वामावर्त्त घुमाए - इस प्रकार तीन बार करे। पुनः दाएँ हाथ से पात्रकेसरिका को ग्रहण करके बाएँ हाथ की अंजलि बनाकर उस पात्रकेसरिका की दस्सियों के अग्रभाग को तीन बार प्रक्षेपित करे। पुनः बाएँ हाथ की हथेली को फैलाकर पात्रकेसरिका से तीन बार प्रमार्जित करे, यह क्रिया तीन बार करे - यह पात्रकेसरिका के संस्पर्शन की विधि है। तत्पश्चात् झोली का संस्पर्शन (संघट्ट) करे - चार कोनों वाली झोली के चारों कोनों को मिलाकर दोनों हाथों के मध्य में रखे, रजोहरण पर उसे डालकर प्रथम दक्षिणावर्त्त बाद में वामावर्त्त घुमाए, तीन बार

यह क्रिया करे। इसी प्रकार बाएँ हाथ की तरफ डालकर तीन बार यह क्रिया करे। उसके बाद गाँठ लगाकर बाएँ हाथ में डाले। - यह झोली का संस्पर्श (संघट्ट) है। लकड़ी के पात्र, नारियल के पात्र, तुम्बी के पात्र, मिट्टी के पात्र, कटह, अर्थात् घड़े के ऊर्ध्वभाग को तोड़कर बनाया गया पात्र एवं ढक्कन की प्रतिलेखना की क्रिया दिनचर्या अधिकार से जाने। पात्र आदि के धारण करने की विधि इस प्रकार है- संस्पर्शित (संघट्टित) झोली के अन्दर जितने संस्पर्शित (संघट्टित) पात्र डाले जाते हैं, वे सब संघट्टित पात्र कहलाते हैं। नारियल एवं तुम्बी के पात्र संस्पर्शित होने पर उन्हें दोनों पैरों के मध्य में रखे, फिर डोरी को गाँठ देकर रजोहरण के ऊपर उस डोरी को तीन-तीन बार दोनों हाथों से फिराए - यह डोरी संघट्टन की विधि है। फिर नारियल एवं तुम्बी के पात्र में डोरी डाले, उस डोरी से गृहीत नारियल और तुम्बी के वे पात्र हाथ और पैरों से अस्पर्शित होने पर भी अस्पर्शित (असंघट्ट) नहीं होते हैं। उनके ऊपर संघट्टित कटाह रखे, तब भी असंघट्ट नहीं होता है। इसी प्रकार टूटे हुए पात्र को भी अस्पर्शित नहीं माना जाता है। ढक्कन को पकड़कर छोटे तुम्बी या नारियल के पात्र के ऊपर स्थापित करने पर हाथ और पैर से अस्पर्शित काष्ठपात्र का भी स्पर्शन (संघट्टा) होता है। उसकी डोर से आवृत्त किन्तु हाथ और पैर से मुक्त पात्र आदि ही असंघट्टित होता है। असंघट्टित पात्र की डोरी को पकड़ने पर हस्त-पाद से मुक्त होने पर भी संस्पर्शित कहा जाता है, अर्थात् उसका संस्पर्श होता है- ऐसा भी पाठ है। यदि उसके ऊपर तीसरा पात्र रखते हैं, तो उसका संस्पर्श होते हुए भी उसका संस्पर्श (संघट्ट) नहीं माना जाता है, इसलिए उसे नहीं रखे। यदि हाथ और पैर से पात्र पकड़े हो परन्तु हाथ से डोरी छोड़ दे, तो भी डोरी का अस्पर्श (असंघट्ट) नहीं होता है। अंगूठे को काष्ठपात्र के मध्य में करके और अंगुलियों को बाहर की तरफ करके उसे पकड़े, तो वह भी-संस्पर्शित (संघट्टित) होता है, किन्तु अन्य प्रकार से पकड़ने पर यह असंस्पर्शित (असंघट्टित) होता है। नारियल एवं तुम्बी पात्र के मध्य में अंगुलियाँ डाल कर एवं अंगूठे को बाहर करके पकड़ते हैं, तो वह संस्पर्शित (संघट्टित) होता है, अन्य प्रकार से पकड़ने पर असंस्पर्शित (असंघट्ट) होता है। संघट्टित

झोली के अन्दर डाले गए संघट्टित पात्र भी संघट्टित की तरह ही होते हैं। संघट्टित पात्र होने पर पात्रसहित वस्तु सामने लाकर और रजोहरण एवं मुखवस्त्रिका सहित, संघट्टित हाथ-पैर वाले कृतयोगी को हाथ में जब तक उसे दे, तब तक योगवाही कल्पादि से मुक्त होता है। वहाँ भी बैठकर हाथ में दे, खड़े होकर न दे। खड़े हुए मुनि के हाथ में भी बैठकर दे। इस प्रकार करने से उन सबको असंघट्ट होता है। आधे बैठकर पात्र आदि में ऊपर से देने या लेने में असंस्पर्श होता है, निद्रित अवस्था में एवं विकथा करने पर संस्पर्शित (संघट्टित) पात्र आदि सभी वस्तुएँ असंस्पर्शित (असंघट्टित) मानी जाती है। निम्न सब स्थितियों में असंघट्ट होता है, भूमि पर पड़ी वस्तु को ग्रहण करते समय, अथवा जाते हुए या खड़े हुए मुनि के रजोहरण, मुखवस्त्रिका - दोनों में से एक का शरीर से संस्पर्शन नहीं होता है। इसी प्रकार जाते हुए या खड़े होकर दण्ड (डण्डे) को बाएँ हाथ के अंगूठे एवं तर्जनी के बीच में रखता है, तब भी असंघट्ट होता है तथा जाते हुए या खड़े होकर भुजाओं को दाहिने से बाएँ या बाएँ से दाहिने ले जाता है, तब भी असंघट्ट होता है - यह स्थिर संस्पर्शन की विधि हैं।

पूर्व में कहे गए अनुसार नारियल, तुम्बी के पात्रों के पादगर्भ में, अर्थात् नीचे हाथी-दाँत या सींग (श्रृंग) आदि के स्थापक नहीं लगाए। टूटे हुए पात्र को जोड़ने में या तरपनी (तृप्ती) को सांधने में लोहा, तांबा, जस्ता, चाँदी, सोने के तारों या कपड़े आदि का वर्जन करे। यहाँ कुछ आचार्य काँचयुक्त परिधान वाली स्त्री का भी भिक्षा ग्रहण हेतु परिहार करते हैं। तांबे, लोहे, हाथी-दाँत, जस्ता आदि के पात्र से भी भिक्षा ग्रहण न करे शेष नियम संस्पर्शन (संघट्ट) के समान ही हैं। यह परिमाण की विधि बताई गई है।

अब किन कालों में कालग्रहण, अर्थात् स्वाध्याय आदि करे ; उससे सम्बन्धित उचित एवं अनुचित काल का विवेचन किया जा रहा है। योगोद्धहन में क्रमशः छः मास तक नित्य कालग्रहण, अर्थात् समय पर अध्ययन आदि करे इसके पश्चात् अन्य योगोद्धहन में इसकी आवश्यकता नहीं है। गणियोग को छोड़कर आषाढ़ पूर्णिमा से लेकर कार्तिक पूर्णिमा तक निश्चित रूप से योग समाप्त हो जाने चाहिए। दूसरे समय में मेघ, विद्युत आदि की संभावना होने से उस काल में

योग न करे। गणियोग भी आषाढ पूर्णिमा से कार्तिक पूर्णिमा के मध्य पूर्ण हो जाए, इस प्रकार से करे अन्य समय में विशेष रूप से चैत्र शुक्ल पंचमी से लेकर वैशाख कृष्ण प्रतिपदा तक तथा चातुर्मासकाल में आश्विन शुक्ल पंचमी से लेकर कार्तिक कृष्ण प्रतिपदा तक बारह दिन सभी जगह कुल-देवताओं की पूजा के लिए प्राणियों का वध होने से महान अस्वाध्यायकाल माना जाता है। उस समय आगम का अध्ययन नहीं करना चाहिए, क्योंकि वह काल इस हेतु उपयुक्त नहीं है। अध्ययन हेतु कालग्रहण श्रावण, भाद्रपद एवं अर्द्ध आश्विन, अर्थात् श्राद्धपक्ष की अमावस्या तक पूर्ण कर लेना चाहिए, उसके बाद आश्विन शुक्ल पक्ष को छोड़कर आवश्यक होने पर पुनः कार्तिक मास में भी कालग्रहण कर सकते हैं।

अन्य अस्वाध्यायकाल इस प्रकार होते हैं - आर्द्रा से प्रारम्भ करके स्वाति नक्षत्र के अन्त तक के नक्षत्रों में जब रवि दसवें स्थान पर हो, ऋतु-स्वभाव से विद्युत का गर्जन एवं वर्षा हो, तो अस्वाध्यायकाल नहीं होता है, किन्तु इस काल में भी उल्कापात होने पर एक प्रहर का अस्वाध्याय और गर्जना होने पर दो प्रहर का अस्वाध्याय होता है। शेष समय में विद्युत आदि के गर्जन से हमेशा ही अस्वाध्यायकाल होता है। सूर्य या चंद्र ग्रहण होने पर अहोरात्र का, अर्थात् एक दिन और रात का अस्वाध्यायकाल होता है। योगोद्धहन क्षेत्र के चारों दिशाओं में भी छः हाथ तक जिन-जिन स्थितियों में अस्वाध्यायकाल माना है, वे इस प्रकार से हैं :- पंचेन्द्रिय जीव का मरण होने पर, अथवा उनके मृत देह का मक्षिका जितना भी अंश होने पर तीन प्रहर का अस्वाध्यायकाल होता है अथवा “अहोरत्तिति” - इस आगमवचन से एक दिन-रात का अस्वाध्यायकाल होता है। दूसरे दिन सूर्योदय होने पर अर्थात् अहोरात्रि के व्यतीत हो जाने पर स्वाध्याय योग्य समय होता है। “अद्दिणा ते उ सत्त सुक्कहिण” - इस आगमवचन से समीप के गृह में साठ हाथ की सीमा में प्रसूता स्त्री के होने पर सात-आठ दिन का अस्वाध्यायकाल होता है। इस प्रकार के अस्वाध्यायकाल को छोड़कर दूसरे काल में अर्थात् स्वाध्याय के काल में कालग्रहण, अर्थात् आगमपाठ या स्वाध्याय आदि करे।

पंचकल्पसूत्र के अनुसार अंगशास्त्रों के श्रुतस्कन्धों का उद्देश, अर्थात् पाठग्रहण शुक्लपक्ष में ही होता है। आचारशास्त्र के ग्रन्थों में तृतीया, पंचमी, दशमी, एकादशी और त्रयोदशी - ये तिथियाँ अध्ययन हेतु उपयुक्त बताई गई हैं। पुनः उपर्युक्त तिथि, वार, नक्षत्रों में चन्द्रबल देखकर अध्ययन (का प्रारम्भ) करना चाहिए। इस प्रकार स्वाध्यायकाल और अस्वाध्यायकाल को सम्यक् प्रकार से समझ लेना चाहिए। योग के आरम्भ में योगवाही लोच करे और उपधि धोए। सभी आश्रयों का त्याग करे। वसति, उपकरण आदि तर्पणी के कल्पजल से धोए। कल्प्यतर्पण की विधि ऋतुचर्या में वर्णित है।

चातुर्मासकाल के मध्य में व्रत, उपधानयोग का आरम्भ करते समय वर्ष, मास आदि की शुद्धि न देखे, मात्र दिन की शुद्धि का विचार करे। मृदु, ध्रुव, चर एवं क्षिप्र नक्षत्र, मंगल और शनिवार के अतिरिक्त अन्य वार आघाटन (प्रथम बार भिक्षाटन), तप, नंदी, आलोचना आदि में शुभ कहे गए हैं। मृत्युयोग आदि का वर्जन करके मृगशिरा आदि दस विद्या नक्षत्रों में, अमृतसिद्धियोग और रवियोग में शुभ शकुनों में योगोद्धहन का आरम्भ करे। अब आगम के विभागों का उल्लेख किया जा रहा है - १. श्रुत २. श्रुतस्कन्ध ३. अध्ययन ४. शतक ५. वर्ग - ये उद्देश कहलाते हैं। श्रुत पूर्ण आगम हैं, जैसे - उत्तराध्ययन, आचारांग आदि सभी आगम। श्रुतस्कन्ध श्रुत दलरूप हैं, वे योगोद्धहन की वाचना में खण्ड या विश्रामरूप हैं। एक विषय के विवेचन की समाप्ति अध्ययन है। श्रुतस्कन्ध के विभाग भी अध्ययनरूप हैं। योगोद्धहन की संख्या भी अध्ययनरूप है। वाचना में विश्रामरूप विभाग को भी अध्ययन कहते हैं। कितने ही आगमों में अध्ययन का अभाव होता है। वहाँ उनकी शतक ऐसी संज्ञा होती है, उनमें भी अध्ययन के समान प्रक्रिया होती है। उनके खण्ड के रूप में वर्ग होते हैं और उनके भी विभाग उद्देश होते हैं। अध्ययन और शतक को विभाजित करने वाले छोटे खण्ड उद्देशक होते हैं। वे कितने ही योगोद्धहन में पृथक् समझाए जाते हैं और वे आदि-अन्तिम एवं अविभक्त होते हैं। इस प्रकार वे उद्देश आदि समरूप होते हैं। योगोद्धहन में नंदी, कालग्रहण, खमासमणा आदि के प्रसंग में जो उद्देश, समुद्देश, अनुज्ञा का वर्णन है, वहाँ वे उद्देश आदि उस सिद्धांत

ग्रन्थ की वाचना आदि में गुरु की आज्ञा के सूचक है। समुद्देश भी उसी की विशेष आज्ञा रूप है और अनुज्ञा उस कार्य को उसी समय शीघ्र करने या कराने का आदेश है। इन सभी स्थितियों में तीन बार निःसंशयतः कहने का उद्देश है। त्रिवाचकत्व विशेष रूप से शकुन, गुरु का आदेश और राजा का आदेश-भावों को दृढ़ीभूत करता है।

अंगशास्त्रों के श्रुतस्कन्ध, अध्ययन उद्देशक आदि को दिवस के प्रथम पाद, अर्थात् प्रथम प्रहर में पढ़े। मध्य प्रहर में न पढ़े। इसी प्रकार मध्याह्न और रात्रि में भी न पढ़े। अंगबाह्य के अध्ययन उद्देशक आदि का स्वाध्याय रात्रि में भी होता है। योग दो प्रकार के होते हैं :- आगाढ़योग और अनागाढ़योग। जिसमें एक योग को समाप्त करके या उसको पूर्ण करके अथवा उसे पूर्ण किए बिना अन्य योग में प्रवेश होता है, वह आगाढ़योग है और जिसमें कालग्रहण, खमासमणा आदि की क्रिया समाप्त होने पर तथा दिन पूर्ण होने पर उस योग को बीच में अपूर्ण छोड़कर अन्य योग में प्रवेश होता है, वह अनागाढ़योग है। उत्तराध्ययन, प्रश्नव्याकरण, आवश्यक, दशवैकालिक, भगवती, महानिशीथ के योग आगाढ़योग हैं और शेष आगमों के योग अनागाढ़योग हैं। वहाँ नदीसूत्र में कहे गए क्रम से या पाक्षिक सूत्र में कहे गए क्रम से दशवैकालिक से लेकर महाप्रत्याख्यान तक के ग्रन्थ उत्कालिक है, उनमें न तो कालग्रहण का विचार होता है, और न संस्पर्शन (संघट्ट) आदि का विचार होता है। उत्तराध्ययन से लेकर निशीथ (निसर्ग) तक के ग्रन्थ कालिक हैं। उनमें स्वाध्याय प्रस्थापन हेतु कालग्रहण, संस्पर्शदोष (संघट्ट) आदि सब बातों का विचार होता है। शेष क्रियाएँ जैसे नदी, खमासमणा, उद्देश आदि कालिक और उत्कालिक - दोनों प्रकार के योगों के समान ही हैं।

अब कालिक ग्रन्थों के योग के उपयोगार्थ कालग्रहण की विधि और स्वाध्याय प्रस्थापनविधि वर्णित की जा रही है - पूर्व में कही गई शुद्ध वसति में पूर्व और उत्तर दिशा में एक-एक कालमण्डल (अध्ययन-क्षेत्र) परिणत खटिका से या परिमार्जन मात्र से बनाए। प्रातःकालीन कालमण्डल में स्थापनाचार्य पश्चिम दिशा में रखे तथा कालग्रहण पूर्व दिशा में करे। व्याघातिक संध्याकाल के समय दक्षिण दिशा में स्थापनाचार्य रखकर उत्तर दिशा में कालग्रहण करे। अर्द्धरात्रि

में भी संध्याकाल की भाँति ही कालग्रहण करे। कालग्रहण में दो मुनि चाहिए - एक दण्डधर (दांडीधर), जो कालदण्ड को धारण करता है ; दूसरा क्रिया प्ररूपक (क्रिया करने वाला) कालग्रही।

यहाँ प्रारम्भ में प्रभातकालीन कालग्रहण की विधि का वर्णन किया गया है, अन्य दो कालों की कालग्रहण विधि भी इसी तरह ही है। प्रभातकाल में पश्चिम दिशा में स्थापनाचार्य को स्थापित करे। फिर कालग्रही दण्डधर को वामपार्श्व में करके दोनों कालमण्डल से आवस्सही-आवस्सही-आवस्सही, निस्सीही-निस्सीही-निस्सीही बोलकर दाएँ हाथ में रजोहरण एवं मुखवस्त्रिका को रखकर भूमि का प्रतिलेखन करते हुए स्थापनाचार्य के समीप जाएँ। फिर वहाँ खमासमणासूत्र से स्थापनाचार्य को वंदन करके वे दोनों इस प्रकार कहें - “हे भगवन् ! आपकी इच्छा हो, तो प्रातःकालीन कालग्रहण की अनुज्ञा दें।” पुनः कालग्रही खमासमणासूत्र से वंदन करके कालदण्डी को स्थापनाचार्य के पास से लेकर उसे बाएँ हाथ से पकड़े फिर रजोहरण से उसका प्रतिलेखन करके परमेष्ठीमंत्र बोलकर उसे दण्डधर के हाथ में दे। फिर दोनों दाहिनी ओर मुड़े। फिर दण्डधर दिशा का अवलोकन करके “आवस्सही-आवस्सही-आवस्सही, निस्सीही-निस्सीही-निस्सीही क्षमाक्षमण को नमस्कार”- यह कहकर स्थापनाचार्य के मण्डल (सीमाक्षेत्र) में आकर गमनागमन में लगे दोषों की आलोचना के लिए आठ श्वासोश्वास परिमाण कायोत्सर्ग करे। कायोत्सर्ग पूर्ण करके प्रकट में परमेष्ठीमंत्र बोले। फिर मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना करके, द्वादशावर्त्तसहित वन्दन करके क्षमाक्षमण के प्रति उनकी अनुमतिपूर्वक कहे - “प्रभात काल का समय हो गया है, साधुजन सजग हों।” - यह कहकर दण्ड को लेकर “आवस्सही-आवस्सही-आवस्सही, निस्सीही-निस्सीही-निस्सीही” - कहकर दण्डधर कालग्रही के समीप आए और आकर पश्चिमाभिमुख होकर खड़ा रहे। फिर कालग्रही - “आवस्सही असज्ज-आवस्सही असज्ज-आवस्सही असज्ज, निस्सीही-निस्सीही-निस्सीही, क्षमाक्षमण को नमस्कार”- यह कहकर स्थापनाचार्य के मंडल में जाकर गमनागमन क्रिया के दोषों की आलोचना के लिए कायोत्सर्ग करे और कायोत्सर्ग में नमस्कारमंत्र का चिन्तन करे। कायोत्सर्ग पूर्ण करके प्रकट में परमेष्ठीमंत्र बोले। फिर

मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना करे। तत्पश्चात् द्वादशावर्तवन्दन करके और दो बार खमासमणासूत्र से नमस्कार करके कहे - “क्षमाक्षमण को नमस्कार, आपकी अनुमति हो, तो मैं प्रभातकाल की उद्घोषणा करूँ” - यह कहकर कालमण्डल में जाएं। फिर वहाँ से आने पर दण्डधर हाथ में रहे हुए दण्ड को कालग्राही सम्मुख स्थापित करे। फिर कालग्रही उसके आगे सीधा खड़ा होकर गमनागमन क्रिया के दोषों का प्रतिक्रमण कर कायोत्सर्ग करे। कायोत्सर्ग में परमेष्ठीमंत्र का चिन्तन करे। फिर कायोत्सर्ग पूर्ण करके प्रकट में नमस्कार मंत्र बोले। तत्पश्चात् रजोहरण की दसीओं का प्रतिलेखन करके बैठ जाएं, फिर रजोहरण का तीन बार प्रतिलेखन करे। तत्पश्चात् असंवलित-विधि से रजोहरण के द्वारा तीन बार काल-पाटली का प्रतिलेखन। करे पुनः कालमण्डल में दाएँ पैर के ऊपर रजोहरण को स्थापित करके मुखवस्त्रिका से शरीर के ऊपर के भाग की प्रतिलेखना करे। फिर बाएँ हाथ से कालमण्डल का स्पर्श करके दाएँ हाथ में गृहीत रजोहरण से दोनों पैरों का परिमार्जन करे। दाहिनी जंघा के मूल में मुखवस्त्रिका को संरक्षित करके और बाएँ हाथ में रजोहरण लेकर बैठ जाए। रजोहरण की दसीओं से दाहिने हाथ के ऊपरी और मध्य भाग को स्पर्शित करके कालमण्डल में स्थित होकर, संपुटीकृत दोनों हाथों के अंगूठों के द्वारा नासिका का, दाएँ कान का और बाएँ कान का तीन बार संस्पर्श करे। फिर दोनों हाथों को ऊपर-नीचे करते हुए एक के बाद एक तीन बार आवर्त के द्वारा भूमि का स्पर्श करके दाएँ हाथ में गृहीत रजोहरण से कालमण्डल में स्थित बाएँ हाथ की अंगुली और अंगूठे के बीच में तीन बार प्रमार्जन करके बाएँ जानु से कालमण्डल का स्पर्श करें, दण्डधर कालदण्ड को हाथ में लेकर उसका प्रतिलेखन करके उसे कमर में रखे। इस प्रकार मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना के पूर्व तीन बार कालमण्डल की प्रतिलेखना करके, नमस्कारमंत्र बोलकर दण्डिका दण्डधर के हाथ में दे। फिर दोनों हाथों से कालमण्डल को स्पर्श करके दोनों हाथों को पैर से संयोजित कर “निसीही-निसीही-निसीही, क्षमाक्षमण को नमस्कार” - यह कहकर कालमण्डल में प्रवेश करे और चोलपट्टे की प्रतिलेखना करे - इसकी विधि गुरु के मुख से जानें। फिर सीधा खड़ा होकर कहे - “प्रभातकाल का ग्रहण करने के

लिए, मैं कायोत्सर्ग करता हूँ— यह कहकर कायोत्सर्ग करे कायोत्सर्ग में नमस्कार का चिन्तन करके सीधा खड़ा हो, दण्डधर द्वारा गृहीत दण्ड को आगे करे। परमेष्ठीमंत्र से कायोत्सर्ग पूर्ण करके दोनों भुजाओं को मिलाकर मुख पर मुखवस्त्रिका लगाकर मौनपूर्वक चतुर्विंशतिस्तव बोलकर दशवैकालिकसूत्र के प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय अध्ययन की एक-एक गाथा मौनपूर्वक पढ़े - यहाँ मूलग्रन्थ में प्रथम और द्वितीय अध्ययन सम्पूर्ण और तीसरे अध्ययन का प्रारम्भ मात्र लिया गया है, जिसका भावार्थ निम्न प्रकार से है -

“धर्म उत्कृष्ट मंगल है। अहिंसा, संयम और तप उसके लक्षण हैं। जिसका मन सदा धर्म में रत रहता है, उसे देव भी नमस्कार करते हैं। जिस प्रकार भ्रमर द्रुम-पुष्पों से थोड़ा-थोड़ा रस पीता है, किसी भी पुष्प को म्लान नहीं करता और अपने को भी तृप्त कर लेता है, उसी प्रकार लोक में जो मुक्त (अपरिग्रही) श्रमण साधु हैं, वे दानभक्त (दाता द्वारा दिए जाने वाले निर्दोष आहार) की एषणा में ठीक उसी प्रकार से ही रत रहते हैं, जो बुद्ध पुरुष मधुकर के समान अनाश्रित हैं - किसी एक पर आश्रित नहीं, वरन् नाना पिंड में रत हैं और जो दान्त हैं, वे अपने इन्हीं गुणों से साधु कहलाते हैं - ऐसा मैं कहता हूँ।” - यह द्रुमपुष्प नामक प्रथम अध्ययन समाप्त होता है।

द्वितीय अध्ययन :- वह कैसे श्रामण्य का पालन करेगा, जो (विषयराग) का निवारण नहीं करता, जो संकल्प के वशीभूत होकर पग-पग पर विषादग्रस्त होता है। जो परवश या अभावग्रस्त होने के कारण वस्त्र, गंध, अलंकार, स्त्री और शयन-आसनों का उपयोग नहीं करता, वह त्यागी नहीं कहलाता। त्यागी वही कहलाता है, जो कान्त और प्रिय भोगों के उपलब्ध होने पर उनकी ओर से पीठ फेर लेता है और स्वाधीनतापूर्वक भोगों का त्याग करता है। समदृष्टि पूर्वक विचरते हुए भी यदि कदाचित् मन (संयम से) बाहर निकल जाए, तो यह विचार कर कि “वह मेरी नहीं है और न ही मैं उसका हूँ, मुमुक्षु उसके प्रति होने वाले विषय-राग को दूर करे। अपने को तपा,

सुकुमारता का त्याग कर, काम, अर्थात् विषय-वासना का त्याग करे इससे दुःख अपने-आप, अतिक्रान्त हो जावेगा। द्वेष-भाव को छिन्न कर, राग-भाव को दूर कर, ऐसा करने से तू संसार-इहलोक और परलोक में सुखी होगा। अगंधन कुल में उत्पन्न सर्प ज्वलित, विकराल, धूमकेतु अग्नि में प्रवेश कर जाते हैं, परन्तु (जीने के लिए) वमन किए हुए विष को वापस पीने की इच्छा नहीं करते। हे यशः कामिन् ! धिक्कार है तुझे ! जो तू क्षणभंगुर जीवन के लिए वमित वस्तु को पीने की इच्छा करता है, इससे तो तेरा मरना श्रेय है। मैं भोजराज की पुत्री (राजीमती) हूँ और तू अंधकवृष्णि का पुत्र (रथनेमि), हम कुल में गन्धन सर्प की तरह न हों। तू निभृत हो, स्थिर मन हो तथा संयम का पालन कर। यदि तू स्त्रियों को देख उनके प्रति इस प्रकार राग-भाव करेगा, तो वायु से आहत हट (जलीय वनस्पति) की तरह अस्थितात्मा हो जाएगा। संयमिनी (राजीमती) के इन सुभाषित वचनों को सुनकर रथनेमि धर्म में वैसे ही

9. कालग्रहण करके दशवैकालिकसूत्र का स्वाध्याय करते समय “त्तिबेमि”
ऐसा समाप्ति सूचक आलापक बोलने से कालग्रहण नष्ट हो जाता है -
ऐसी परम्परागत मान्यता है।

स्थिर हो गए, जैसे अंकुश से हाथी वश में होता है। सम्बुद्ध, पण्डित और प्रविचक्षण पुरुष ऐसा ही करते हैं, वे भोगों से वैसे ही दूर हो जाते हैं, जैसे कि पुरुषोत्तम रथनेमि हुए - ऐसा मैं कहता हूँ।
श्रामण्यपूर्वक नामक द्वितीय अध्ययन समाप्त होता है।

जो संयम में सुस्थितात्मा है, जो विप्रमुक्त है, त्राता है, उन निर्ग्रन्थ महर्षियों के लिए ये अनाचीर्ण हैं (अग्राह हैं, असेव्य हैं, अकरणीय हैं)“।

पुनः दक्षिण, पश्चिम, उत्तर दिशा में भी इसी प्रकार कायोत्सर्ग कर नमस्कारमंत्र का चिन्तन करे। चतुर्विंशतिस्तव के पाठपूर्वक दशवैकालिकसूत्र के प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय अध्ययन की एक गाथा का पाठ भी चारों दिशाओं में करे। पुनः पूर्वाभिमुख होकर उसी प्रकार कायोत्सर्ग करे। कायोत्सर्ग में मौनपूर्वक परमेष्ठीमंत्र का स्मरण कर प्रकट में परमेष्ठीमंत्र बोले। फिर “आवस्सीही-आवस्सीही-आवस्सीही,

निसीही-निसीही-निसीही”, बोलकर स्थापनाचार्य के समीप जाकर गमनागमन की क्रिया के दोषों का प्रतिक्रमण कर कायोत्सर्ग करे। कायोत्सर्ग में परमेष्ठीमंत्र का चिन्तन करे। फिर प्रकट में परमेष्ठीमंत्र बोले, तत्पश्चात् बैठकर मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना करे, द्वादशवर्त सहित खमासमणासूत्र से वन्दन कर-“प्रभातकाल प्रतिपादन करुं ?” - ऐसा कहे। यहाँ तक सम्पूर्ण क्रिया मौनपूर्वक होती है, इसके बाद ही दूसरों से बोलना होता है। पुनः खमासमणासूत्रपूर्वक वन्दन करके कहे-“क्या मुनियों के लिए यह प्रभातकाल शुद्ध है।” मुनि कहें - “हाँ शुद्ध है।” फिर दण्डधर भी स्थापनाचार्य के समीप आए। दण्डधर और कालग्रही - दोनों स्थापनाचार्य के आगे जानु भूमि की तरफ झुकाकर वज्रासन में बैठकर, नमस्कारमंत्र बोलकर दशवैकालिकसूत्र की प्रथम छः गाथाओं का स्वाध्याय करे। फिर कालग्रही द्वादशवर्तवन्दन देकर कहे-“किसी ने (किसी में कोई दोष) देखा या सुना हो तो कहे।” (प्रत्युत्तर में) मुनि भगवंत कहें - “किसी ने नहीं देखा और न सुना।” - यह कालग्रहण की विधि है।

प्रभातकालीन कालग्रहण की विधि के अनुसार ही वाघाई (संध्याकाल), अर्द्धरत्ति (अर्द्धरात्रि) और विरत्ति (विरात्रि) में कालग्रहण करते हैं। संध्याकाल को वाघाई, रात्रि के द्वितीय प्रहर की समाप्ति को अर्द्धरत्ति और रात्रि के चतुर्थ प्रहर के प्रारम्भ को विरत्ति कहते हैं। प्रभात काल का ग्रहण दो घड़ी रात्रि शेष रहने पर करते हैं। इस प्रकार ये चारों कालग्रहण रात्रि में ही होते हैं। संध्या एवं अर्द्धरात्रि के समय कालग्रहण में स्थापनाचार्य दक्षिण दिशा में, विरात्रि के कालग्रहण में स्थापनाचार्य पश्चिम या दक्षिण दिशा में एवं प्रभात के कालग्रहण में स्थापनाचार्य को पश्चिम दिशा में रखते हैं। छींक, बिल्ली के शब्द आदि से प्रभात का कालग्रहण भग्न होता है, उसे पुनः सात या नौ बार आरंभ किया जा सकता है। किन्तु अन्य विघ्न द्वारा अन्य कालग्रहण के भग्न होने पर उसे पुनः ग्रहण नहीं किया जा सकता। इस प्रकार प्रभात के कालग्रहण की क्रिया निष्पन्न करने पर प्रतिलेखन के समय, अंग प्रतिलेखना एवं उपधि प्रतिलेखना करे। वसति का प्रमार्जन करके अस्थि, चर्म आदि की शुद्धि करे। फिर कालग्रही गमनागमन के दोषों का प्रतिक्रमण करके मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना

करे। फिर खमासमणासूत्र से वन्दन करके कहे -“हे भगवन्! मैं वसति का ग्रहण करूँ” पुनः खमासमणासूत्रपूर्वक वन्दन करके कहे -“हे भगवन्! वसति निर्दोष (शुद्ध) है।” पुनः खमासमणापूर्वक वन्दन करके कहे -“हे भगवन्! मैं प्रभातकाल का ग्रहण करूँ।” पुनः इसी प्रकार वंदन करके कहे -“हे भगवन्! प्रभातकालग्रहण निर्दोष (शुद्ध) है।” फिर गुरु, योगवाही तथा अन्य मुणिगण स्वाध्याय हेतु स्थापनाचार्य के सम्मुख जाएं। - यह कालग्रहण साधु का नित्यकर्म है।

अब विशेष रूप से स्वाध्याय-प्रस्थापना की विधि का विवेचन किया जा रहा है। कालग्रही या अन्य (दूसरा व्यक्ति) स्थापनाचार्य के आगे मुखवस्त्रिका का प्रतिलेखन करके द्वादशावर्तसहित खमासमणा-सूत्रपूर्वक वंदन करके कहे -“हे भगवन्! मैं स्वाध्याय करूँ ?” पुनः खमासमणासूत्र से वंदन करके कहे -“स्वाध्याय-प्रस्थापन के लिए मैं कायोत्सर्ग करता हूँ।” यह कहकर एवं अन्नत्थसूत्र बोलकर वह कायोत्सर्ग करे। कायोत्सर्ग में नमस्कारमंत्र का चिन्तन करे। मौनपूर्वक नमस्कारमंत्र से कायोत्सर्ग पूर्ण करके एवं धीरे से दोनों हाथों को सामने लाकर सत्ताईस उच्छ्वास परिमाण चतुर्विंशतिस्तव का मौनपूर्वक पाठ करे पुनः मौनपूर्वक ही दशवैकालिकसूत्र के प्रथम दो अध्ययन एवं तीसरे अध्ययन का एक सूत्र पढ़े। पुनः उसी प्रकार कायोत्सर्ग करे। कायोत्सर्ग में नमस्कारमंत्र का विशेष चिन्तन करे। फिर कायोत्सर्ग पूर्ण करके, मौनपूर्वक नमस्कारमंत्र पढ़े और मौनपूर्वक ही द्वादशावर्त वन्दन करे। तत्पश्चात् मौनपूर्वक खमासमणासूत्र से वंदन करके कहे-“हे भगवन्! मैं स्वाध्याय करूँ ?” स्वाध्याय-प्रस्थापन करने तक की क्रिया मौनपूर्वक होती है। उसके बाद आपस में चर्चा कर सकते हैं। पुनः खमासमणासूत्र से वंदन करके कहे - “हे भगवन् ! स्वाध्याय निर्दोष है ?” गुरु कहे - “निर्दोष है।” तत्पश्चात् दो बार खमासमणासूत्र से वंदन कर कहे -“हे भगवन्! मुझे स्वाध्याय करने की अनुज्ञा दें, मैं स्वाध्याय प्रारम्भ करता हूँ।” फिर जानु नीचे की तरफ झुके, इस तरह बैठकर नमस्कारमंत्र बोलते हुए दशवैकालिक सूत्र के प्रारम्भ की पाँच गाथाएँ पढ़े। फिर द्वादशावर्तपूर्वक वन्दन करे। तत्पश्चात् कालमण्डल में जाकर मुखवस्त्रिका का प्रतिलेखन करके तीन बार उसी प्रकार क्रिया करे, जिस प्रकार कालग्रहण के समय की थी।

“मण्डूकप्लुत” न्याय से अर्थात् मेंढक की तरह फुदकते हुए चलकर कालमण्डल में प्रवेश करे - यह स्वाध्याय-प्रस्थापन की विधि है। प्रभातकाल में कालग्रहण की दो घड़ी और प्रतिलेखना की दो घड़ी छोड़कर दो-दो मुहूर्त के दो स्वाध्यायों का प्रस्थापन करे “स्वाध्याय में लगे दोषों के प्रतिक्रमणार्थ मैं कायोत्सर्ग करता हूँ”- यह कहकर अन्नत्थसूत्र बोलकर कायोत्सर्ग करे। कायोत्सर्ग में नमस्कारमंत्र का चिन्तन करे एवं कायोत्सर्ग पूर्ण करके प्रकट में नमस्कारमंत्र बोले। द्वितीय कायोत्सर्ग में “काल-सम्बन्धी दोषों के प्रतिक्रमणार्थ मैं कायोत्सर्ग करता हूँ।” द्वितीय स्वाध्याय के अन्त में भी इसी प्रकार की क्रिया करे। यह कालग्रहणपूर्वक स्वाध्याय-प्रस्थापन की विधि है। योगवाही प्रभातकाल में, अर्थात् रात्रि-प्रतिक्रमण के अन्त में “योग के संरक्षणार्थ मैं कायोत्सर्ग करता हूँ”- यह कहकर अन्नत्थसूत्र बोलकर कायोत्सर्ग करे। कायोत्सर्ग में चतुर्विंशतिस्तव का चिन्तन करे, कायोत्सर्ग पूर्ण करके प्रकट में चतुर्विंशतिस्तव बोले। योगवाही प्रतिदिन यह क्रिया करे। तत्पश्चात् प्रभातकाल में योगोद्धहन के आरम्भ और समाप्ति पर नंदीविधि करे। यहाँ उसकी विधि का उल्लेख है -

चैत्य (मंदिर) में, या उपाश्रय में पूर्ववत् समवसरण की स्थापना कर प्रदक्षिणा करे। फिर शिष्य गुरु को खमासमणासूत्रपूर्वक वंदन करके कहे - “आप इच्छापूर्वक मुझे अमुक श्रुतस्कन्ध के अमुक उद्देशक के निमित्त नंदी करने के लिए वासक्षेप करे और चैत्यवंदन कराए।” तत्पश्चात् गुरु पूर्व में कही गई विधि के अनुसार वासक्षेप को अभिमंत्रित करके शिष्य के सिर पर डाले। फिर पूर्व में कही गई विधि के अनुसार दोनों वर्धमान-स्तुति से चैत्यवंदन करे। शान्तिदेवता, श्रुतदेवता, क्षेत्रदेवता, भुवनदेवता, शासनदेवता एवं वैयावृत्यकर देवता का कायोत्सर्ग एवं स्तुति पूर्व में जिस प्रकार बताई गई है, उसी प्रकार से करे। फिर शक्रस्तव, अर्हणादिस्तोत्र, जयवीयराय आदि का पाठ पूर्व की भाँति ही बोलें। फिर योगवाही मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना करके द्वादशावर्त्त वन्दन दें। फिर “उद्देशक आदि के अध्ययन निमित्त नंदी करने हेतु मैं कायोत्सर्ग करता हूँ”, ऐसा कहकर अन्नत्थसूत्र बोलकर कायोत्सर्ग करे। कायोत्सर्ग में चतुर्विंशतिस्तव का चिन्तन करे। कायोत्सर्ग पूर्ण करके प्रकट में चतुर्विंशतिस्तव बोले। फिर खड़े हुए

गुरु शिष्य को बायीं तरफ करके तीन बार नमस्कार मंत्र बोलकर लघुनंदी पढ़े। “ज्ञान पाँच प्रकार के कहे गए हैं आदि”- इसके पुनः पठनार्थ अमुक साधु के शिष्य अमुक साधु की या अमुक साध्वी की शिष्या अमुक साध्वी की प्रथम वाचना के अन्त में उद्देशनंदी, द्वितीय वाचना के अन्त में समुद्देशनंदी एवं तृतीय वाचना के अन्त में अनुज्ञानंदी होती हैं। वासक्षेप करके गुरु उद्देशनंदी, समुद्देशनंदी तथा अनुज्ञानंदी हेतु नंदीसूत्र की तीन वाचना दे और तीन बार वासक्षेप करे। गुरु गन्ध, अक्षत आदि अभिमंत्रित करे तथा परमात्मा के चरणों का स्पर्श करके क्रमशः वहाँ उपस्थित साधु, श्रावक आदि को दे। सभी उसके सिर पर “नित्यारगपारगो होई”, अर्थात् भवसागर को पार करने वाले होओ - यह कहकर वासक्षेप एवं अक्षत डालते हैं। सभी योगोद्बहनों में श्रुतस्कन्ध के आरम्भ एवं समापन में नंदी की यही विधि है - योगोद्बहन में नंदी की विधि के पश्चात् उद्देश आदि की विधि इस प्रकार से है -

पहले मुखवस्त्रिका का प्रतिलेखन करके योगवाही द्वादशावर्तसहित खमासमणासूत्र पूर्वक वंदन करके कहे - “आपकी इच्छा हो, तो आप मुझे अमुक शतक, या अमुक श्रुतस्कन्ध के अमुक वर्ग का, अमुक शतक के अमुक उद्देश के प्रारम्भ का, या अन्त का निरूपण करे।” गुरु कहे - “मैं निरूपण करता हूँ।” तत्पश्चात् पुनः शिष्य खमासमणासूत्रपूर्वक वंदन करके कहे - “आप बताइए कि मैं क्या पढ़ूँ ?” गुरु कहे - “वंदन करके प्रतिपादन करो।” पुनः खमासमणासूत्र से वंदन करके शिष्य कहे - “हे भगवन्! आप अमुक श्रुतस्कन्ध के अमुक अध्ययन के अमुक उद्देशक को प्रतिपादित करें।” गुरु कहे - “क्षमाक्षमण से प्राप्त सूत्र, अर्थ एवं सूत्र और अर्थ - दोनों से महाव्रत रूपी गुणों का वर्द्धन करो तथा संसार-सागर को पार करने वाले बनो।” पुनः शिष्य कहे - “आप उद्देश दें, अर्थात् सूत्र, अर्थ आदि का प्रतिपादन करें।” तत्पश्चात् खमासमणासूत्रपूर्वक वंदन करके कहे - “आपके द्वारा यह प्रवेदित किया गया है।” पुनः उसी प्रकार वंदन कर कहे - “इसे मुझे अन्य साधुओं को बताने की अनुज्ञा दें।” गुरु कहे - “बताओ। उद्देश से उसे जानो, समुद्देश से उसे अच्छी तरह से जानो और अनुज्ञा से उसे सम्यक् प्रकार से अवधारण

करो।“ अन्य योगों में भी इसे इसी तरह प्रतिपादित करे फिर शिष्य कहे - “अमुक श्रुतस्कन्ध, अमुक अध्ययन एवं अमुक उद्देश के अर्थ हेतु (उद्देशार्थ) मैं कायोत्सर्ग करता हूँ।“ यह कहकर एवं अन्नत्थसूत्र बोलकर कायोत्सर्ग करे। कायोत्सर्ग में चतुर्विंशतिस्तव का चिन्तन करे। कायोत्सर्ग पूर्ण करके चतुर्विंशतिस्तव बोले। पुनः मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना करके द्वादशावर्त्तसहित खमासमणासूत्र से वंदन करके कहे - “आप अपनी इच्छा पूर्वक मुझे अमुक श्रुतस्कन्ध के अमुक अध्ययन के अमुक उद्देशक का उपदेश दें।“ शेष क्रिया यथा खमासमणासूत्रपूर्वक वंदन कर गुरु से निवेदन करना, गुरु का प्रत्युत्तर, शिष्य का कथन, कायोत्सर्ग आदि सभी क्रियाएँ पूर्ववत् ही हैं। पुनः मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना करके खमासमणासूत्रपूर्वक वंदन करके कहे - “आप अपनी इच्छापूर्वक मुझे यावत् उद्देश की अनुज्ञा दें।“ गुरु कहे - “मैं अनुज्ञा देता हूँ।“ शेष सब क्रियाएँ, अर्थात् खमासमणासूत्र से वंदन, शिष्य का निवेदन, गुरु का प्रत्युत्तर, अनुज्ञा कायोत्सर्गादि पूर्ववत् करे विशेष उद्देश हेतु वंदन के अन्त में गुरु कहे - “योग (अध्ययन) करो।“ समुद्देश हेतु वंदन के अंत में गुरु कहे - “इसे अच्छी तरह से जानो।“ अनुज्ञा हेतु वंदन के अंत में गुरु कहे - “अच्छी तरह से धारण करो।“ अन्यत्र भी इन प्रसंगों में इसी प्रकार का कथन करे। “इसे साधुओं को बताने की मुझे अनुज्ञा दें“, आदि शिष्य के निवेदन के अन्त में उद्देश, समुद्देश, अनुज्ञा आदि में यथाक्रम गुरु इसी प्रकार कहे। अंगसूत्र के श्रुतस्कन्ध के उद्देश एवं अनुज्ञा के पूर्व नंदी करे। कालिक योगों में शिष्य खमासमणासूत्रपूर्वक वंदन करके कहे - “हे भगवन्! मैं संघट्ट की मुखवस्त्रिका का प्रतिलेखन करता हूँ।“ यह कहकर मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना करे। द्वादशावर्त्तसहित खमासमणा सूत्र से वंदन करके कहे - “मुझे संघट्ट (संस्पर्श) की अनुज्ञा दें।“ “संघट्ट (संस्पर्श) के अनुज्ञार्थ मैं कायोत्सर्ग करता हूँ“- यह कहकर तथा अन्नत्थसूत्र बोलकर कायोत्सर्ग करे। कायोत्सर्ग में चतुर्विंशतिस्तव का चिन्तन करे एवं कायोत्सर्ग पूर्ण करके प्रकट में चतुर्विंशतिस्तव बोले। कालिकसूत्रों के योगों में भी ऊपर कहे गए अनुसार ही क्रिया करते हैं। वहाँ भी इसी प्रकार मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना, कायोत्सर्ग इत्यादि क्रियाएँ दूसरी बार भी की जाती हैं।

स्पष्ट कथन, अर्थात् उक्तमान के अभाव में भी कालिक योगों में संघट्ट आदि की अनुज्ञा विधि हमेशा की जाती है। उत्कालिक योग में संघट्ट उक्तमान का उद्देश भी नहीं होता है और क्रिया भी नहीं होती है। तत्पश्चात् - “अमुक श्रुतस्कन्ध, अमुक अध्ययन के उद्देशनार्थ, समुद्देशनार्थ और अनुज्ञार्थ निरुद्ध, अर्थात् प्रत्याख्यान और पारणा कराएं।” - ऐसा गुरु से निवेदन करे। तत्पश्चात् गुरु निरुद्ध में आयम्बिल का प्रत्याख्यान और पारणे में नीवि का प्रत्याख्यान कराएं। नीवि में शिष्य पहले द्वादशावर्त्तपूर्वक वन्दन करके फिर प्रत्याख्यान करता है। आयम्बिल में वन्दन के बिना ही प्रत्याख्यान करता है - यह उद्देश आदि की विधि है। फिर पुनः स्वाध्याय प्रस्थापन करे। अंग बाह्यकालिक एवं उत्कालिक सूत्रों के अध्ययन हेतु कालग्रहण, स्वाध्याय-प्रस्थापन, संघट्ट आदि की विधि अलग से नहीं बताई गई हैं। अंगप्रविष्ट आगम ग्रंथों के समान ही कालिक ग्रंथों के उद्देशक आदि के अध्ययन में कालग्रहण से लेकर श्रुतस्कन्ध, अध्ययन, उद्देशक आदि के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा के लिए भी उन-उन अभिलाषों के द्वारा मुखवस्त्रिका प्रतिलेखन करके वन्दन, खमासमणा एवं कायोत्सर्ग करते हैं। उत्कालिक आगम ग्रन्थों के योगों में दिन में अध्ययन करने की भी यही विधि है। संध्याकाल में, अथवा अर्द्धरात्रि में कालग्रहण करने वालों के लिए संघट्टे की विधि एवं प्रत्याख्यान की विधि नहीं होती है। प्राभातिक कालग्रहण के समान ही क्रिया विधि करने की विधि है, अर्थात् मतांतर से यह भी विधि है। श्रुतस्कन्ध के प्रारम्भ में कुछ लोग आयम्बिल करने के लिए कहते हैं, यहाँ गुरु-परम्परा को ही महत्त्व दें - यह सब योगों के संसधान की विधि है। अब योगोद्धहन की विधि बताई जा रही है -

१. आवश्यक २. दशवैकालिक ३. मण्डलप्रवेश ४. उत्तराध्ययन ५. आचारांग ६. सूत्रकृतांग ७. स्थानांग ८. समवायांग ९. निशीथ १०. जीतकल्प ११. बृहत्कल्प १२. व्यवहार १३. दशाश्रुतस्कन्ध १४. ज्ञाताधर्मकथा १५. उपासकदशा १६. अंतकृद्दशा १७. अनुत्तरोपपातिकदशा १८. प्रश्नव्याकरण १९. विपाकसूत्र २०. उपांग २१. प्रकीर्णक २२. महानिशीथ एवं २३. भगवती ।

अब आवश्यकसूत्र के योगोद्धहन की विधि का वर्णन करते हैं :-
 आवश्यकसूत्र में एक ही श्रुतस्कन्ध है। इसके योग में प्रथम दिन श्रुतस्कन्ध के उद्देश एवं सामायिक नामक अध्ययन के उद्देश, अर्थात् वाचना, समुद्देश, अर्थात् अर्थबोध और अनुज्ञा, अर्थात् अध्यापन की अनुमति की विधि की जाती है। इस दिन नंदी के समक्ष विधि होती है, अर्थात् नंदीक्रिया होती है और योगवाही के द्वारा आयम्बिल-तप किया जाता है। इसकी क्रियाविधि में योगवाही चार बार मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना करे, चार बार द्वादशावर्तवन्दन करे, चार बार खमासमणासूत्रपूर्वक वन्दन करे और तीन बार कायोत्सर्ग करे। इसी प्रकार दूसरे दिन योगवाही निर्विकृति (नीवि) तप और द्वितीय चतुर्विंशतिस्तव नामक अध्ययन के उद्देश (वाचना), समुद्देश (अर्थबोध) और अनुज्ञा (अध्यापन की अनुमति) की विधि करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही तीन बार मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना करे, तीन बार द्वादशावर्तवन्दन करे, तीन बार खमासमणासूत्रपूर्वक वन्दन करे और तीन बार कायोत्सर्ग करे।

तीसरे दिन योगवाही आयम्बिल करे तथा तृतीय वन्दन नामक अध्ययन के उद्देश (वाचना), समुद्देश (अर्थबोध) और अनुज्ञा (अध्यापन की अनुमति) की विधि करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही तीन बार मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना करे, तीन बार द्वादशावर्तवन्दन करे, तीन बार खमासमणासूत्रपूर्वक वन्दन करे और तीन बार कायोत्सर्ग करे।

चौथे दिन योगवाही निर्विकृति (नीवि) करे तथा चतुर्थ प्रतिक्रमण नामक अध्ययन के उद्देश (वाचना), समुद्देश (अर्थबोध) और अनुज्ञा (अध्यापन की अनुमति) की विधि करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही तीन बार मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना करे, तीन बार द्वादशावर्तवन्दन करे, तीन बार खमासमणासूत्रपूर्वक वन्दन करे और तीन बार कायोत्सर्ग करे।

पाँचवें दिन योगवाही आयम्बिल करे एवं कायोत्सर्ग नामक अध्ययन के उद्देश (वाचना), समुद्देश (अर्थबोध) और अनुज्ञा (अध्यापन की अनुमति) की विधि करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही तीन बार मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना करे, तीन बार द्वादशावर्तवन्दन

करे, तीन बार खमासमणासूत्रपूर्वक वन्दन करे और तीन बार कायोत्सर्ग करे।

छठवें दिन योगवाही निर्विकृति (नीवि) तप करे और प्रत्याख्यान नामक अध्ययन के उद्देश (वाचना), समुद्देश (अर्थबोध) और अनुज्ञा (अध्यापन की अनुमति) की विधि करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही तीन बार मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना करे, तीन बार सामान्य द्वादशावर्तवन्दन करे, तीन बार खमासमणासूत्रपूर्वक वन्दन करे और तीन बार कायोत्सर्ग करे।

सातवें दिन योगवाही आयम्बिल-तप करे तथा आवश्यक श्रुतस्कन्ध के समुद्देश की विधि करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् एक बार मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना करे, एक बार द्वादशावर्तवन्दन करे, एक बार खमासमणा सूत्रपूर्वक वन्दन करे और एक बार कायोत्सर्ग करे।

आठवें दिन योगवाही आयम्बिल-तप करे तथा आवश्यक श्रुतस्कन्ध की अनुज्ञा (अध्यापन की अनुमति) रूप नदीक्रिया करे इसकी क्रिया में भी योगवाही एक बार मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना करे, एक बार द्वादशावर्तवन्दन करे, एक बार खमासमणा सूत्रपूर्वक वन्दन करे और एक बार कायोत्सर्ग करे।

यह आवश्यकसूत्र के आठ दिन के उत्कालिक आगाढ़योग की विधि है। इसके यंत्र का न्यास इस प्रकार है :-

श्री आवश्यक श्रुतस्कन्ध दिन - ८, नदी - २								
दिन	१	२	३	४	५	६	७	८
अध्ययन	श्रु.उ.न.१	२	३	४	५	६	श्रु.	श्रु.अ.
काउसग्ग	४	३	३	३	३	३	१	१

(श्रुतस्कन्ध उद्देश की नदी में काउसग्ग-१, तत्पश्चात् प्रथम अध्ययन के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा के काउसग्ग-३ - इस प्रकार ४ काउसग्ग)

दशवैकालिकसूत्र के योग की विधि इस प्रकार है :-
दशवैकालिकसूत्र का भी एक ही श्रुतस्कन्ध है। इसके योग में-

पहले दिन योगवाही आयम्बिल करे एवं प्रथम द्रुमपुष्पिका नामक अध्ययन के उद्देश (वाचना), समुद्देश (अर्थबोध) एवं अनुज्ञा

(अध्यापन कराने की अनुमति) रूप नंदीक्रिया करे। इसकी क्रिया में योगवाही चार बार मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना करे, चार बार द्वादशावर्त्तवंदन करे, चार बार खमासमणासूत्रपूर्वक वंदन करे और चार बार कायोत्सर्ग करे।

दूसरे दिन योगवाही निर्विकृति (नीवि) करे एवं द्वितीय श्रामण्यपूर्वक नामक अध्ययन के उद्देश (वाचना), समुद्देश (अर्थबोध) तथा अनुज्ञा (अध्यापन कराने की अनुमति) की विधि करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही तीन बार मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना करे, तीन बार द्वादशावर्त्तवंदन करे, तीन बार खमासमणासूत्रपूर्वक वंदन करे और तीन बार कायोत्सर्ग करे।

तीसरे दिन योगवाही आयम्बिल करे तथा तृतीय क्षुल्लकाचार-कथा अध्ययन के उद्देश (वाचना), समुद्देश (अर्थबोध) एवं अनुज्ञा (अध्यापन कराने की अनुमति) की विधि करे। इसमें भी मुखवस्त्रिका-प्रतिलेखन आदि सभी क्रियाएँ पूर्ववत् तीन-तीन बार करे।

चौथे दिन योगवाही निर्विकृति (नीवि) करे एवं चौथे षड्जीवनिकाय नामक अध्ययन के उद्देश (वाचना), समुद्देश (अर्थबोध) एवं अनुज्ञा (अध्यापन कराने की अनुमति) की विधि करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना आदि सभी क्रियाएँ पूर्ववत् तीन-तीन बार करे।

पाँचवें दिन योगवाही आयम्बिल करे तथा पाँचवें पिण्डैषणा नामक अध्ययन के प्रथम एवं द्वितीय - दोनों उद्देशकों के उद्देश (वाचना), समुद्देश (अर्थबोध) एवं अनुज्ञा (अध्यापन कराने की अनुमति) की विधि करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ तीन-तीन बार करे।

छठें दिन योगवाही नीवि-तप करे तथा धर्म, अर्थ, काम नामक छठें अध्ययन के उद्देश (वाचना), समुद्देश (अर्थबोध) एवं अनुज्ञा (अध्यापन कराने की अनुमति) की विधि करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ तीन-तीन बार करे।

सातवें दिन योगवाही आयम्बिल-तप करे तथा सातवें वाक्यशुद्धि अध्ययन के उद्देश (वाचना), समुद्देश (अर्थबोध) एवं अनुज्ञा

(अध्यापन कराने की अनुमति) की विधि करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ तीन-तीन बार करे।

आठवें दिन योगवाही नीवि-तप करे तथा आठवें आचारप्रणिधान अध्ययन के उद्देश (वाचना), समुद्देश (अर्थबोध) एवं अनुज्ञा (अध्यापन कराने की अनुमति) की विधि करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ तीन-तीन बार करे।

नवें दिन योगवाही आयम्बिल-तप करे तथा नवें विनय नामक अध्ययन के प्रथम एवं द्वितीय - दोनों उद्देशको के उद्देश (वाचना), समुद्देश (अर्थबोध) एवं अनुज्ञा (अध्यापन कराने की अनुमति) की विधि करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ तीन-तीन बार करे।

दसवें दिन योगवाही नीवि-तप करे तथा नवें अध्ययन के तृतीय एवं चतुर्थ उद्देशक के उद्देश (वाचना), समुद्देश (अर्थबोध) एवं अनुज्ञा (अध्यापन कराने की अनुमति) की विधि करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ तीन-तीन बार करे।

ग्यारहवें दिन योगवाही आयम्बिल-तप करे तथा दसवें सभिक्षु नामक अध्ययन के उद्देश (वाचना), समुद्देश (अर्थबोध) एवं अनुज्ञा (अध्यापन कराने की अनुमति) की विधि करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ तीन-तीन बार करे।

बारहवें दिन योगवाही नीवि-तप करे तथा रतिकल्प नामक प्रथम चूलिका के उद्देश (वाचना), समुद्देश (अर्थबोध) एवं अनुज्ञा (अध्यापन कराने की अनुमति) की विधि करे। इसकी क्रियाविधि में भी योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ तीन-तीन बार करे।

तेरहवें दिन योगवाही आयम्बिल-तप करे तथा विचित्रचर्या नामक द्वितीय चूलिका के उद्देश (वाचना), समुद्देश (अर्थबोध) एवं अनुज्ञा (अध्यापन की अनुमति) की क्रिया करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ तीन-तीन बार करे।

चौदहवें दिन योगवाही आयम्बिल-तप करे तथा दशवैकालिक के श्रुतस्कन्ध के समुद्देश हेतु सभी क्रियाएँ पूर्ववत् एक-एक बार करे।

पन्द्रहवें दिन योगवाही आयम्बिल-तप करे तथा दशवैकालिक के श्रुतस्कन्ध की अनुज्ञा के लिए नंदी रचना की विधि करे, अर्थात्

नदीक्रिया करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ एक-एक बार करे।

इस प्रकार दशवैकालिकसूत्र नामक उत्कालिक आगम के अनुसार आगाढ़योग- विधि के पन्द्रह दिन उपर्युक्तानुसार क्रियाएँ होती हैं। दशवैकालिक के योग का यंत्र इस प्रकार है :-

श्री दशवैकालिक श्रुतस्कन्ध : दिन-१५, नंदी-२										
दिन	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०
अध्ययन	श्रु.उ. न.१	२	३	४	५	६	७	८	९	९
उद्देशक	०	०	०	०	१/२	०	०	०	१/२	३/४
काउसग्ग	४	३	३	३	३	३	३	३	३	३

दिन	११	१२	१३	१४	१५
अध्ययन	१०	११ प्र.चू.	१२ द्वि.चू.	१३ श्रु.स.	१४ श्रु.अ.न.
उद्देशक	०	०	०	०	०
काउसग्ग	३	३	३	१	१

मण्डल-प्रवेश नामक श्रुतस्कन्ध के अध्ययन हेतु उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की विधि वाचना का व्यवच्छेद होने से स्कन्दिलाचार्य के समय से ही व्यवच्छिन्न चली आ रही है। परम्परागत आधारों पर ही यह विधि वर्तमान में भी प्रचलित है। मुनि सप्त मण्डलियों में प्रवेश करने के लिए सात आयम्बिल करते हैं। इसमें तीसरे आयम्बिल में उपस्थापना हेतु नदीक्रिया होती है, किन्तु श्रुत के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा हेतु नदी नहीं होती है। मुनि उपस्थापन या महाव्रत-आरोपण की नदीविधि के द्वारा ही सम्पूर्ण मण्डलियों में प्रवेश पा लेता है। जैसे :- सूत्रमंडली, अर्थमंडली इत्यादि - ये सात मण्डलियाँ पूर्ववत् ही हैं। यह मण्डलीप्रवेश की विधि है।

उत्तराध्ययन में एक ही श्रुतस्कन्ध है। (इसके योग के लिए योगवाही निम्न क्रिया करे।) -

पहले दिन योगवाही आयम्बिल, नदीक्रिया एवं एक काल का ग्रहण करे तथा उत्तराध्ययन नामक श्रुतस्कन्ध के प्रथम अध्ययन के

उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की विधि करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही चार बार मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना करे, चार बार द्वादशावर्तवन्दन करे, चार बार खमासमणासूत्रपूर्वक वन्दन करे तथा चार बार कायोत्सर्ग करे।

दूसरे दिन योगवाही आयम्बिल एवं एक काल का ग्रहण करे तथा द्वितीय अध्ययन के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की विधि करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही तीन बार मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना करे, तीन बार द्वादशावर्तवन्दन करे, तीन बार खमासमणासूत्रपूर्वक वन्दन करे तथा तीन बार कायोत्सर्ग करे।

तीसरे दिन योगवाही आयम्बिल एवं एक काल का ग्रहण करे, तथा तृतीय अध्ययन के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की विधि करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ तीन-तीन बार करे।

चौथे दिन योगवाही आयम्बिल एवं एक काल का ग्रहण करे तथा चौथे अध्ययन के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की विधि करे। यदि योगवाही उसी दिन असंस्कृत नामक अध्ययन की तरह गाथाओं को सम्यक् रूप से पढ़कर मुखाग्र कर लेता है, तो उसे उसी दिन उसकी अनुज्ञा दे देते हैं, अन्यथा तरह गाथाएँ कण्ठस्थ होने पर दूसरे दिन आयम्बिल आदि करवाकर, अनुज्ञा देते हैं। इसकी क्रियाविधि में स्थिति के अनुसार मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना, द्वादशावर्तवन्दन, खमासमणासूत्रपूर्वक वन्दन एवं कायोत्सर्ग - ये सब दो-दो बार, या तीन-तीन बार करे।

पाँचवें दिन - यदि चौथे दिन असंस्कृत नामक अध्ययन सम्यक् प्रकार से पूर्ण न हो, तो पाँचवे दिन नीवि करे यदि चौथे दिन असंस्कृत नामक अध्ययन सम्यक् प्रकार से पूर्ण कर लिया गया हो, तो पाँचवे दिन आयम्बिल करे तथा चौथे अध्ययन के अनुज्ञा की क्रिया करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही एक बार मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना करे, एक बार द्वादशावर्तवन्दन करे, एक बार सामान्य वन्दन करे एवं एक बार कायोत्सर्ग करे।

छठे दिन योगवाही नीवि-तप एवं एक काल का ग्रहण करे तथा पाँचवें अध्ययन के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की विधि करे।

इसकी क्रियाविधि में योगवाही तीन बार मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना करे, तीन बार द्वादशावर्तवन्दन करे, तीन बार खमासमणासूत्रपूर्वक वन्दन करे एवं तीन बार कायोत्सर्ग करे।

सातवें दिन योगवाही आयम्बिल एवं एक काल का ग्रहण करे तथा छठें अध्ययन के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही सभी क्रियाएँ पूर्ववत् तीन-तीन बार करे।

आठवें दिन योगवाही नीवि एवं एक काल का ग्रहण करे तथा सातवें अध्ययन के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की विधि करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ तीन-तीन बार करे।

नवें दिन योगवाही आयम्बिल करे एवं एक काल का ग्रहण करे तथा आठवें अध्ययन के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ तीन-तीन बार करे।

दसवें दिन योगवाही नीवि एवं एक काल का ग्रहण करे तथा नवें अध्ययन के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ तीन-तीन बार करे।

ग्यारहवें दिन योगवाही आयम्बिल एवं एक काल का ग्रहण करे तथा दसवें अध्ययन के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ तीन-तीन बार करे।

बारहवें दिन योगवाही नीवि-तप एवं एक काल का ग्रहण करे तथा ग्यारहवें अध्ययन के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की विधि करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ तीन-तीन बार करे।

तेरहवें दिन योगवाही आयम्बिल-तप एवं एक काल का ग्रहण करे तथा बारहवें अध्ययन के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की विधि करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ तीन-तीन बार करे।

चौदहवें दिन योगवाही नीवि-तप एवं एक काल का ग्रहण करे तथा तेरहवें अध्ययन के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की विधि करे।

इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ तीन-तीन बार करे।

पन्द्रहवें दिन योगवाही आयम्बिल-तप एवं एक काल का ग्रहण करे तथा चौदहवें अध्ययन के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की विधि करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ तीन-तीन बार करे।

सोलहवें दिन योगवाही नीवि-तप एवं एक काल का ग्रहण करे तथा पन्द्रहवें एवं सोलहवें अध्ययन के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की विधि करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ छः-छः बार करे।

सत्रहवें दिन योगवाही आयम्बिल-तप एवं एक काल का ग्रहण करे तथा सत्रहवें एवं अठारहवें अध्ययन के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की विधि करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ छः-छः बार करे।

अठारहवें दिन योगवाही नीवि-तप एवं एक काल का ग्रहण करे तथा उन्नीसवें एवं बीसवें अध्ययन के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की विधि करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ छः-छः बार करे।

उन्नीसवें दिन योगवाही आयम्बिल-तप तथा एक काल का ग्रहण करे एवं इक्कीसवें और बाईसवें अध्ययन के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की विधि करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ छः-छः बार करे।

बीसवें दिन योगवाही नीवि-तप एवं एक काल का ग्रहण करे तथा तेईसवें और चौबीसवें अध्ययन के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की विधि करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ छः-छः बार करे।

इक्कीसवें दिन यागवाही आयम्बिल-तप एवं एक काल का ग्रहण करे तथा पच्चीसवें एवं छब्बीसवें अध्ययन के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की विधि करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् ही सभी क्रियाएँ छः-छः बार करे।

बाईसवें दिन योगवाही नीवि-तप एवं एक काल का ग्रहण करे तथा सत्ताईसवें एवं अट्ठाईसवें अध्ययन के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की विधि करे। इसकी क्रिया विधि में योगवाही पूर्ववत् ही सभी क्रियाएँ छः-छः बार करे।

तेईसवें दिन योगवाही आयम्बिल-तप एवं एक काल का ग्रहण करे तथा उनतीसवें एवं तीसवें अध्ययन के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की विधि करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् ही सभी क्रियाएँ छः-छः बार करे।

चौबीसवें दिन योगवाही नीवि-तप एवं एक काल का ग्रहण करे तथा एकतीसवें एवं बत्तीसवें अध्ययन के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की विधि करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् ही सभी क्रियाएँ छः-छः बार करे।

पच्चीसवें दिन योगवाही आयम्बिल-तप एवं एक काल का ग्रहण करे तथा तैंतीसवें एवं चौतीसवें अध्ययन के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की विधि करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् ही सभी क्रियाएँ छः-छः बार करे।

छब्बीसवें दिन योगवाही नीवि-तप एवं एक काल का ग्रहण करे तथा पैतीसवें एवं छत्तीसवें अध्ययन के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की विधि करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् ही सभी क्रियाएँ छः-छः बार करे।

सत्ताईसवें दिन योगवाही आयम्बिल-तप एवं एक काल का ग्रहण करे तथा श्रुतस्कन्ध के समुद्देश की विधि करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ एक-एक बार करे।

अट्ठाईसवें दिन योगवाही आयम्बिल-तप, एक काल का ग्रहण एवं नंदीक्रिया करे तथा श्रुतस्कन्ध के अनुज्ञा की विधि करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ एक-एक बार करे।

इस प्रकार अट्ठाईस दिनों में उत्तराध्ययन का योगोद्धहन पूर्ण होता है। यह कालिक आगाढ़योग है। उत्तराध्ययन के यंत्र का न्यास इस प्रकार है :-

श्री उत्तराध्ययन आगाढ़योग दिन-२८, काल-२८, नंदी-२									
काल	१	२	३	४	५	६	७	८	९
अध्ययन	शु.उ. , नंदी-१	२	३	४-असं, उ.स.	४-असं.अ.	५	६	७	८
काउसग्ग	४	३	३	२ या ३	१	३	३	३	३

काल.	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१७	१८	१९
अध्ययन	९	१०	११	१२	१३	१४	१५ १६	१७ १८	१९ २०	२१ २२
काउसग्ग	३	३	३	३	३	३	६	६	६	६

काल.	२०	२१	२२	२३	२४	२५	२६	२७	२८
अध्ययन	२३ २४	२५ २६	२७ २८	२९ ३०	३१ ३२	३३ ३४	३५ ३६	शु.स.	शु.अ.न.
काउसग्ग	६	६	६	६	६	६	६	१	१

अब आचारांगसूत्र के योगोद्धहन की विधि वर्णित की जा रही है :-

आचारांग में दो श्रुतस्कन्ध हैं, जिसके प्रथम श्रुतस्कन्ध में ब्रह्मचर्य का आख्यान है। यहाँ सर्वप्रथम आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के योगोद्धहन की विधि वर्णित है :-

प्रथम दिन - प्रथम दिन योगवाही आयम्बिल-तप, नंदीक्रिया एवं एक काल का ग्रहण करे। यह क्रिया आचारांगसूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध की वाचना के उद्देश्य से की जाती है। इसमें सर्वप्रथम परिज्ञा नामक प्रथम अध्ययन की वाचना दी जाती है। उसमें भी पहले

प्रथम अध्ययन के प्रथम उद्देशक की और फिर प्रथम अध्ययन के द्वितीय उद्देशक की वाचना देते हैं। इस वाचना के पश्चात् क्रमशः प्रथम अध्ययन के प्रथम एवं द्वितीय उद्देशक का समुद्देश, अर्थात् अर्थबोध कराया जाता है। फिर उसी दिन दिन के अन्तिम प्रहर में प्रथम अध्ययन के प्रथम एवं द्वितीय उद्देशक के अध्ययन की अनुज्ञा प्रदान की जाती है। इस दिन की समग्र विधि में दस बार मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना करे, दस बार द्वादशावर्त्तवन्दन करे, दस बार खमासमणासूत्रपूर्वक वन्दन करे एवं दस बार कायोत्सर्ग करे।

द्वितीय दिन - द्वितीय दिन योगवाही नीवि-तप एवं एक काल का ग्रहण करे तथा प्रथम अध्ययन के तीसरे एवं चौथे उद्देशक के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करे। इसकी विधि में योगवाही छः बार मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना करे, छः बार द्वादशावर्त्तवन्दन करे, छः बार खमासमणापूर्वक वन्दन करे एवं छः बार कायोत्सर्ग करे।

तीसरे दिन - तीसरे दिन योगवाही आयम्बिल-तप एवं एक काल का ग्रहण करे तथा प्रथम अध्ययन के पाँचवें और छठे उद्देशक के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करे। इसकी क्रिया विधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ छः-छः बार करे।

चौथे दिन - चौथे दिन योगवाही नीवि-तप एवं एक काल का ग्रहण करे तथा प्रथम अध्ययन के सातवें उद्देशक के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करे इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ छः-छः बार करे - इस प्रकार चार दिन से प्रथम परिज्ञाभिधान अध्ययन समाप्त होता है।

पाँचवें दिन - पाँचवें दिन योगवाही आयम्बिल-तप एवं एक काल का ग्रहण करे। यह क्रिया द्वितीय लोकविजय अध्ययन के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा के उद्देश्य से की जाती है; साथ ही इसमें द्वितीय अध्ययन के पहले और दूसरे उद्देशक के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया की जाती है। इसकी क्रिया विधि में योगवाही नौ बार मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना करे, नौ बार द्वादशावर्त्तवन्दन करे, नौ बार खमासमणासूत्रपूर्वक वन्दन करे एवं नौ बार कायोत्सर्ग करे।

छटें दिन - छटें दिन योगवाही नीवि-तप एवं एक काल का ग्रहण करे तथा द्वितीय अध्ययन के तीसरे और चौथे उद्देशक के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ छः-छः बार करे।

सातवें दिन - सातवें दिन योगवाही आयम्बिल-तप एवं एक काल का ग्रहण करे तथा द्वितीय अध्ययन के पाँचवें और छटें उद्देशक के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ छः-छः बार करे। इस प्रकार द्वितीय अध्ययन तीन दिन में पूर्ण होता है।

आठवें दिन - आठवें दिन योगवाही नीवि-तप एवं एक काल का ग्रहण करे। यह क्रिया तृतीय शीतोष्णीय अध्ययन के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा के उद्देश्य से की जाती है, साथ ही इसमें तृतीय अध्ययन के पहले और दूसरे उद्देशक के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया भी की जाती है। इसकी क्रियाविधि में योगवाही सभी क्रियाएँ पूर्ववत् नौ-नौ बार करे।

नवें दिन - नवें दिन योगवाही आयम्बिल-तप एवं एक काल का ग्रहण करे तथा तृतीय अध्ययन के तीसरे और चौथे उद्देशक के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ छः-छः बार करे। इस प्रकार तीसरा अध्ययन दो दिन में पूर्ण होता है।

दसवें दिन - दसवें दिन योगवाही नीवि एवं एक काल का ग्रहण करे। यह क्रिया चौथे सम्यक्त्व नामक अध्ययन के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा के उद्देश्य से की जाती है। साथ ही इसमें चौथे अध्ययन के प्रथम एवं द्वितीय उद्देशक के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया भी करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ नौ-नौ बार करे।

ग्यारहवें दिन - ग्यारहवें दिन योगवाही आयम्बिल-तप तथा एक काल का ग्रहण करे एवं चौथे अध्ययन के तीसरे और चौथे उद्देशक के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करे। इसकी

क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ छः-छः बार करे। इस प्रकार चौथा अध्ययन दो दिन में समाप्त होता है।

बारहवें दिन - बारहवें दिन योगवाही नीवि-तप एवं एक काल का ग्रहण करे। यह क्रिया पाँचवें आवन्तिक अध्ययन के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा के उद्देश्य से की जाती है, साथ ही इसमें पाँचवें अध्ययन के प्रथम एवं द्वितीय उद्देशक के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की विधि भी की जाती है। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ नौ-नौ बार करे।

तेरहवें दिन - तेरहवें दिन योगवाही आयम्बिल एवं एक काल का ग्रहण करे तथा पाँचवें अध्ययन के तीसरे और चौथे उद्देशक के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ छः-छः बार करे।

चौदहवें दिन - चौदहवें दिन योगवाही नीवि-तप एवं एक काल का ग्रहण करे तथा पाँचवें अध्ययन के पाँचवें और छठे उद्देशक के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ छः-छः बार करे। इस प्रकार पाँचवां अध्ययन तीन दिन में पूर्ण होता है।

पन्द्रहवें दिन - पन्द्रहवें दिन योगवाही आयम्बिल-तप एवं एक काल का ग्रहण करे। यह क्रिया छठे ध्रुवाध्ययन के उद्देश एवं समुद्देश के उद्देश्य से की जाती है; साथ ही इसमें छठे अध्ययन के पहले और दूसरे उद्देशक के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ आठ-आठ बार करे।

सोलहवें दिन - सोलहवें दिन योगवाही नीवि एवं एक काल का ग्रहण करे तथा छठे अध्ययन के तीसरे और चौथे उद्देशक के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ छः-छः बार करे।

सत्रहवें दिन - सत्रहवें दिन योगवाही आयम्बिल एवं एक काल का ग्रहण करे। इसमें छठे अध्ययन के पाँचवें उद्देशक के उद्देश,

समुद्देश एवं अनुज्ञा की एवं छटें अध्ययन के अनुज्ञा की क्रिया करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ चार-चार बार करे। इस प्रकार तीन दिन में छटा अध्ययन समाप्त होता है।

अठारहवें दिन - अठारहवें दिन योगवाही नीवि एवं एक काल का ग्रहण करे। यह क्रिया आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के विमोह नामक सातवें अध्ययन के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा के उद्देश्य से की जाती है; साथ ही इसमें सप्तम अध्ययन के प्रथम एवं द्वितीय उद्देशक के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया भी की जाती है। इसकी क्रिया विधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ नौ-नौ बार करे।

उन्नीसवें दिन - उन्नीसवें दिन योगवाही आयम्बिल-तप एवं एक काल का ग्रहण करे तथा सातवें अध्ययन के तीसरे एवं चौथे उद्देशक के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ छः-छः बार करे।

बीसवें दिन - बीसवें दिन योगवाही नीवि-तप एवं एक काल का ग्रहण करे तथा सातवें अध्ययन के पाँचवें एवं छटें उद्देशक के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ छः-छः बार करे।

इक्कीसवें दिन - इक्कीसवें दिन योगवाही आयम्बिल-तप एवं एक काल का ग्रहण करे तथा सातवें अध्ययन के सातवें एवं आठवें उद्देशक के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ छः-छः बार करे। इस प्रकार सातवां अध्ययन चार दिन में समाप्त होता है।

बाईसवें दिन - बाईसवें दिन योगवाही नीवि-तप एवं एक काल का ग्रहण करे। यह क्रिया आठवें उपाध्यानश्रुत नामक अध्ययन के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा के उद्देश्य से की जाती है, साथ ही इसमें आठवें अध्ययन के पहले एवं दूसरे उद्देशक के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की विधि भी की जाती है। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ नौ-नौ बार करे।

तेईसवें दिन - तेईसवें दिन योगवाही आयम्बिल-तप एवं एक काल का ग्रहण करे तथा आठवें अध्ययन के तीसरे और चौथे उद्देशक के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ छः-छः बार करे।

चौबीसवें दिन - चौबीसवें दिन योगवाही आयम्बिल-तप एवं एक काल का ग्रहण करे तथा नवें महापरिज्ञा नामक अध्ययन जो कि व्यच्छिन्न है, के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की नदीक्रिया करे। इसके साथ ही आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के समुद्देश एवं अनुज्ञा की नदीक्रिया करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ नौ-नौ बार करे। इस प्रकार आचारांग का प्रथम श्रुतस्कन्ध चौबीस दिनों से पूर्ण होता है।

आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के यंत्र का न्यास निम्नांकित है:-

आचारांग प्रथम श्रुतस्कन्ध : कालग्रहण-२४, दिन-२४, अनागाढयोग नदी-२, अंग-१, अध्ययन-८						
काल	१	२	३	४	५	६
अध्ययन	अं.,उ.,न./श्रु.उ.अ.-१	१	१	१	२	२
उद्देशक	१/२	३/४	५/६	७	१/२	३/४
काउसग्ग	१०	६	६	४	६	६

काल	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५
अध्ययन	२	३	३	४	४	५	५	५	६
उद्देशक	५/६	१/२	३/४	१/२	२/३	१/२	३/४	५/६	१/२
काउसग्ग	६	६	६	६	६	६	६	६	८

काल	१६	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४
अध्ययन	६	६	७	७	७	७	८	८	६ श्रु.सु. श्रु.अ.न.

उद्देशक	३/४	५	१/२	३/४	५/६	७/८	१/२	३/४	०
काउसग	६	४	६	६	६	६	६	६	६

अब आचारांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध के योगोद्धहन की विधि निम्नानुसार है :-

प्रथम दिन - प्रथम दिन योगवाही आयम्बिल-तप, नदीक्रिया एवं एक काल का ग्रहण करे। यह क्रिया आचारांगश्रुत के द्वितीय श्रुतस्कन्ध की वाचना के उद्देश्य से की जाती है। इसमें प्रथम पिण्डैषणा नामक अध्ययन के उद्देश एवं समुद्देश की तथा प्रथम अध्ययन के प्रथम एवं द्वितीय उद्देशक के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की भी विधि की जाती है। इसकी क्रियाविधि में योगवाही नौ बार मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना, नौ बार द्वादशावर्त्तवन्दन, नौ बार खमासमणासूत्रपूर्वक वन्दन एवं नौ बार कायोत्सर्ग करे।

द्वितीय दिन - द्वितीय दिन योगवाही नीवि-तप एवं एक काल का ग्रहण करे तथा प्रथम अध्ययन के तीसरे और चौथे उद्देशक के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ छः-छः बार करे।

तृतीय दिन - तीसरे दिन योगवाही आयम्बिल-तप एवं एक काल का ग्रहण करे तथा प्रथम अध्ययन के पाँचवें और छठे उद्देशक के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ छः-छः बार करे।

चौथे दिन - चौथे दिन योगवाही नीवि-तप एवं एक काल का ग्रहण करे तथा प्रथम अध्ययन के सातवें और आठवें उद्देशक के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ छः-छः बार करे।

पाँचवें दिन - पाँचवें दिन योगवाही आयम्बिल-तप एवं एक काल का ग्रहण करे तथा प्रथम अध्ययन के नवें और दसवें उद्देशक के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ छः-छः बार करे।

छटें दिन - छटें दिन योगवाही नीवि-तप एवं एक काल का ग्रहण करे तथा प्रथम अध्ययन के ग्यारहवें और बारहवें उद्देशक के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करे तथा इसके साथ ही प्रथम अध्ययन के अनुज्ञा की विधि भी करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ छः-छः बार करे। इस प्रकार द्वितीय श्रुतस्कन्ध का प्रथम अध्ययन छः दिन में समाप्त हो जाता है।

सातवें दिन - सातवें दिन योगवाही आयम्बिल एवं एक काल का ग्रहण करे। यह क्रिया द्वितीय शय्या नामक अध्ययन के उद्देश एवं समुद्देश के उद्देश्य से की जाती है। इसके साथ ही इसमें द्वितीय अध्ययन के प्रथम एवं द्वितीय उद्देशक के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ आठ-आठ बार करे।

आठवें दिन - आठवें दिन योगवाही नीवि-तप एवं एक काल का ग्रहण करे तथा द्वितीय अध्ययन के तीसरे उद्देशक के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करे तथा इसके साथ ही द्वितीय अध्ययन के अनुज्ञा की विधि भी करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ चार-चार बार करे। इस प्रकार द्वितीय अध्ययन दो दिन में समाप्त होता है।

नवें दिन - नवें दिन योगवाही आयम्बिल-तप एवं एक काल का ग्रहण करे। यह क्रिया तीसरे ईर्या नामक अध्ययन के उद्देश, समुद्देश के उद्देश्य से की जाती है। इसके साथ ही इसमें तीसरे अध्ययन के प्रथम एवं द्वितीय उद्देशक के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ आठ-आठ बार करे।

दसवें दिन - दसवें दिन योगवाही नीवि-तप एवं एक काल का ग्रहण करे तथा तीसरे अध्ययन के तीसरे उद्देशक के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की एवं तृतीय अध्ययन के अनुज्ञा की विधि करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ चार-चार बार करे।

ग्यारहवें दिन - ग्यारहवें दिन योगवाही आयम्बिल-तप एवं एक काल का ग्रहण करे। यह क्रिया चौथे भाषा नामक अध्ययन के

उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा के उद्देश्य से की जाती है। इसके साथ ही इसमें चौथे अध्ययन के प्रथम एवं द्वितीय उद्देशक के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की विधि भी की जाती है। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ नौ-नौ बार करे।

बारहवें दिन - बारहवें दिन योगवाही नीवि-तप एवं एक काल का ग्रहण करे। यह क्रिया पाँचवें वस्त्रैषणा नामक अध्ययन के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा के उद्देश्य से की जाती है। इसके साथ ही इसमें पाँचवें अध्ययन के पहले और दूसरे उद्देशक के उद्देश, समुद्देश एवं वाचना की क्रिया भी की जाती है। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ नौ-नौ बार करे।

तेरहवें दिन - तेरहवें दिन योगवाही आयम्बिल-तप एवं एक काल का ग्रहण करे। यह क्रिया छठवें पात्रैषणा नामक अध्ययन के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा के उद्देश्य से की जाती है। इसके साथ ही इसमें छठे अध्ययन के पहले और दूसरे उद्देशक के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ नौ-नौ बार करे।

चौदहवें दिन - चौदहवें दिन योगवाही नीवि-तप एवं एक काल का ग्रहण करे। यह क्रिया सातवें औद्याग्रप्रतिमा नामक अध्ययन के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा के उद्देश्य से की जाती है। इसके साथ ही इसमें सातवें अध्ययन के पहले और दूसरे उद्देशक के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की विधि भी करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ नौ-नौ बार करे।

आठवें अध्ययन से लेकर चौदहवें अध्ययन तक के सात अध्ययन आयुक्तपानक के द्वारा होते हैं। आयुक्तपानक को संघट्टानुक्रम से पूर्व में ही कहा गया है।

पन्द्रहवें दिन - पन्द्रहवें दिन योगवाही आयम्बिल-तप एवं एक काल का ग्रहण करे तथा आठवें अध्ययन के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ तीन-तीन बार करे। यहाँ से आयुक्तपानक का आरम्भ होता है।

सोलहवें दिन - सोलहवें दिन योगवाही नीवि-तप एवं एक काल का ग्रहण करे तथा नवें अध्ययन के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की विधि करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ तीन-तीन बार करे।

सत्रहवें दिन - सत्रहवें दिन योगवाही आयम्बिल एवं एक काल का ग्रहण करे तथा दसवें अध्ययन के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की विधि करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ तीन-तीन बार करे।

अठारहवें दिन - अठारहवें दिन योगवाही नीवि-तप एवं एक काल का ग्रहण करे तथा ग्यारहवें अध्ययन के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की विधि करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ तीन-तीन बार करे।

उन्नीसवें दिन - उन्नीसवें दिन योगवाही आयम्बिल-तप एवं एक काल का ग्रहण करे तथा बारहवें अध्ययन के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की विधि करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ तीन-तीन बार करे।

बीसवें दिन - बीसवें दिन योगवाही नीवि-तप एवं एक काल का ग्रहण करे तथा तरेहवें अध्ययन के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ तीन-तीन बार करे।

इक्कीसवें दिन - इक्कीसवें दिन योगवाही आयम्बिल-तप एवं एक काल का ग्रहण करे तथा चौदहवें अध्ययन के उद्देश, समुद्देश की अनुज्ञा की विधि करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ तीन-तीन बार करे।

बाईसवें दिन - बाईसवें दिन योगवाही नीवि-तप एवं एक काल का ग्रहण करे तथा पन्द्रहवीं भावना नामक चूलिका के उद्देश, समुद्देश की अनुज्ञा की क्रिया करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ तीन-तीन बार करे। इस दिन के बाद से आयुक्तपान का परित्याग होता है।

तेईसवें दिन - तेईसवें दिन योगवाही आयम्बिल-तप एवं एक काल का ग्रहण करे तथा सोलहवीं विमुक्त नामक चूलिका के उद्देश, समुद्देश की अनुज्ञा की क्रिया करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ तीन-तीन बार करे।

चौबीसवें दिन - चौबीसवें दिन योगवाही आयम्बिल-तप एवं एक काल का ग्रहण करे तथा द्वितीय श्रुतस्कन्ध के समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया तथा नदी विधि करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ दो-दो बार करे।

पच्चीसवें दिन - पच्चीसवें दिन योगवाही आयम्बिल-तप एवं एक काल का ग्रहण करे तथा आचारांग के समुद्देश की विधि करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ दो-दो बार करे।

छब्बीसवें दिन - छब्बीसवें दिन योगवाही आयम्बिल-तप एवं एक काल का ग्रहण करे तथा आचारांगसूत्र के अनुज्ञा की विधि करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ एक-एक बार करे।

यह आचारांग के द्वितीय स्कन्ध के योग हैं। दोनों स्कन्धों के कुल पचास दिन, पचास कालग्रहण, एवं पाँच नदी होते हैं। यह कालिक अनागाढ़ योग हैं। आचारांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध के यंत्र का न्यास निम्नांकित है :-

आचारांग का द्वितीय श्रुतस्कन्ध :- काल-२६, दिन-२६, नदी-२ एवं अध्ययन-१६										
काल	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०
अध्ययन	द्वि. श्रु.उ. न.-१	१	१	१	१	१	२	२	३	३
उद्देशक	१/२	३/४	५/६	७/८	९/१०	११	१/२	३	१/२	३
काउसगग	९	६	६	६	६	६	८	४	८	४

काल	११	१२	१३	१४	१५	१६	१७	१८	१९
अध्ययन	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२
					आयुक्तपानक -१	आ. -२	आ. -३	आ. -४	आ. -५

उद्देशक	१/२	१/२	१/२	१/२	०	०	०	०	०
काउसग	६	६	६	६	३	३	३	३	३

काल	२०	२१	२२	२३	२४	२५	२६
अध्ययन	१३ आ.-६	१४ आ. -७	१५ भा. अ.तृ.चू.	१६ वि. अ.च.चू.	श्रु.स. ,अ.न.	आचा. समु.	आचा. अ.
उद्देशक	०	०	०	०	०	०	०
काउसग	३	३	३	३	२	२	१

अब सूत्रकृतांगसूत्र के योगोद्धहन की विधि का विवरण है। सूत्रकृतांग में दो श्रुतस्कन्ध हैं। प्रथम श्रुतस्कन्ध के योग की विधि निम्नांकित है :-

प्रथम दिन - पहले दिन योगवाही नंदीक्रिया, आयम्बिल-तप एवं एक काल का ग्रहण करे। यह क्रिया सूत्रकृतांग की वाचना के उद्देश्य से की जाती है। इसमें प्रथम श्रुतस्कन्ध के प्रथम अध्ययन के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की विधि की जाती है, साथ ही इसमें प्रथम अध्ययन के प्रथम एवं द्वितीय उद्देशक के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की विधि भी की जाती है। इसकी क्रियाविधि में योगवाही ग्यारह बार मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना, ग्यारह बार द्वादशावर्तवन्दन, ग्यारह बार खमासमणासूत्रपूर्वक वन्दन करे एवं ग्यारह बार कायोत्सर्ग करे।

द्वितीय दिन - दूसरे दिन योगवाही नीवि-तप एवं एक काल का ग्रहण करे तथा प्रथम अध्ययन के तीसरे और चौथे उद्देशक के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की विधि करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ छः-छः बार करे।

तृतीय दिन - तीसरे दिन योगवाही आयम्बिल-तप एवं एक काल का ग्रहण करे। यह क्रिया द्वितीय वैकालिक नामक अध्ययन के उद्देश एवं समुद्देश के उद्देश्य से की जाती है, साथ ही इसमें द्वितीय अध्ययन के प्रथम एवं द्वितीय उद्देशक के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा

की विधि भी की जाती है। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ आठ-आठ बार करे।

चतुर्थ दिन - चौथे दिन योगवाही नीवि-तप एवं एक काल का ग्रहण करे तथा द्वितीय अध्ययन के तीसरे उद्देशक के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा के साथ-साथ द्वितीय अध्ययन के अनुज्ञा की भी विधि करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ चार-चार बार करे।

पाँचवें दिन - पाँचवें दिन योगवाही आयम्बिल-तप एवं एक काल का ग्रहण करे। यह क्रिया तृतीय उपसर्गपरिज्ञा नामक अध्ययन के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा के उद्देश्य से की जाती है, साथ ही इसमें तृतीय अध्ययन के प्रथम एवं द्वितीय उद्देशक के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया भी की जाती है। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ नौ-नौ बार करे।

छठें दिन - छठें दिन योगवाही नीवि-तप एवं एक काल का ग्रहण करे तथा तृतीय अध्ययन के तीसरे एवं चौथे उद्देशक के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की विधि करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ छः-छः बार करे।

सातवें दिन - सातवें दिन योगवाही आयम्बिल-तप एवं एक काल का ग्रहण करे। यह क्रिया चतुर्थ स्त्रीपरिज्ञा नामक अध्ययन के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा के उद्देश्य से की जाती है। साथ ही इसमें चतुर्थ अध्ययन के प्रथम एवं द्वितीय उद्देशक के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की विधि भी की जाती है। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ नौ-नौ बार करे।

आठवें दिन - आठवें दिन योगवाही नीवि-तप एवं एक काल का ग्रहण करे। यह क्रिया पाँचवें निरयविवृत्ति नामक अध्ययन के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा के उद्देश्य से की जाती है। साथ ही इसमें पंचम अध्ययन के प्रथम एवं द्वितीय उद्देशक के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया भी की जाती है। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ नौ-नौ बार करे।

नवें दिन - नवें दिन योगवाही आयम्बिल एवं एक काल का ग्रहण करे तथा छठवें महावीरस्तव नामक अध्ययन के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की विधि करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ तीन-तीन बार करे।

दसवें दिन - दसवें दिन योगवाही नीवि-तप एवं एक काल का ग्रहण करे तथा सातवें कुशील नामक अध्ययन के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की विधि करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ तीन-तीन बार करे।

ग्यारहवें दिन - ग्यारहवें दिन योगवाही आयम्बिल-तप एवं एक काल का ग्रहण करे तथा आठवें परिभाषा नामक अध्ययन के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की विधि करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ तीन-तीन बार करे।

बारहवें दिन - बारहवें दिन योगवाही नीवि-तप एवं एक काल का ग्रहण करे तथा नवें वीर्यसमाधि नामक अध्ययन के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की विधि करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ तीन-तीन बार करे।

तेरहवें दिन - तेरहवें दिन योगवाही आयम्बिल-तप एवं एक काल का ग्रहण करे तथा दसवें धर्मसम नामक अध्ययन के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की विधि करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ तीन-तीन बार करे।

चौदहवें दिन - चौदहवें दिन योगवाही नीवि-तप एवं एक काल का ग्रहण करे तथा ग्यारहवें मार्ग-समवसरण नामक अध्ययन के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की विधि करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ तीन-तीन बार करे।

पन्द्रहवें दिन - पन्द्रहवें दिन योगवाही आयम्बिल-तप एवं एक काल का ग्रहण करे तथा बारहवें यथा-तथा नामक अध्ययन के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की विधि करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ तीन-तीन बार करे।

सोलहवें दिन - सोलहवें दिन योगवाही नीवि-तप एवं एक काल का ग्रहण करे तथा तेरहवें ग्रन्थ नामक अध्ययन के उद्देश,

समुद्देश एवं अनुज्ञा की विधि करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ तीन-तीन बार करे।

सत्रहवें दिन - सत्रहवें दिन योगवाही आयम्बिल-तप एवं एक काल का ग्रहण करे तथा चौदहवें यदतीत नामक अध्ययन के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की विधि करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ तीन-तीन बार करे।

अठारहवें दिन - अठारहवें दिन योगवाही नीवि-तप करे एवं एक काल का ग्रहण करे तथा पन्द्रहवें गाथा नामक अध्ययन के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की विधि करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ तीन-तीन बार करे।

उन्नीसवें दिन - उन्नीसवें दिन योगवाही आयम्बिल-तप एवं एक काल का ग्रहण करे तथा सोलहवें अध्ययन के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की विधि करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ तीन-तीन बार करे।

बीसवें दिन - बीसवें दिन योगवाही आयम्बिल-तप एवं एक काल का ग्रहण करे तथा प्रथम श्रुतस्कन्ध के अनुज्ञा की नंदीक्रिया करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ दो-दो बार करे।

इस प्रकार सूत्रकृतांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के योग बीस दिन के होते हैं। प्रथम श्रुतस्कन्ध के यंत्र का न्यास इस प्रकार है :-

सूत्रकृतांगसूत्र के प्रथम श्रुतस्कंध में : काल-२०, दिन-२०, नंदी-२, अंग-दूसरा										
काल	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०
अध्ययन	अं. उ. नं. ,शु. उ. अ.१	१	२	२	३	३	४	५	६	७
उद्देशक	१/२	३/४	१/२	३	१/२	३/४	१/२	१/२	०	०

काउसगग	११	६	८	४	६	६	६	६	३	३
--------	----	---	---	---	---	---	---	---	---	---

काल	११	१२	१३	१४	१५	१६	१७	१८	१९	२०
अध्ययन	८	६	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	प्र.श्रु.स. अ.नं.
उद्देशक	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०
काउसगग	३	३	३	३	३	३	३	३	३	२

अब सूत्रकृतांग के द्वितीय स्कन्ध के योगोद्धहन की विधि उल्लिखित है :-

प्रथम दिन :- प्रथम दिन योगवाही आयम्बिल-तप, एक काल का ग्रहण एवं नंदीक्रिया करे। यह क्रिया द्वितीय श्रुतस्कन्ध की वाचना के उद्देश्य से की जाती है। इसके साथ ही इसमें द्वितीय श्रुतस्कन्ध के प्रथम पुण्डरीक नामक अध्ययन के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया भी करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ चार-चार बार करे।

द्वितीय दिन :- द्वितीय दिन योगवाही नीवि-तप एवं एक काल का ग्रहण करे तथा द्वितीय श्रुतस्कन्ध के द्वितीय क्रियास्थान नामक अध्ययन के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया भी करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ तीन-तीन बार करे।

तीसरे दिन :- तीसरे दिन योगवाही आयम्बिल-तप एवं एक काल का ग्रहण करे तथा तृतीय आहारपरिज्ञा नामक अध्ययन के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ तीन-तीन बार करे।

चौथे दिन :- चौथे दिन योगवाही नीवि-तप एवं एक काल का ग्रहण करे तथा चौथे प्रत्याख्यानक्रिया नामक अध्ययन के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ तीन-तीन बार करे।

पाँचवें दिन :- पाँचवें दिन योगवाही आयम्बिल-तप एवं एक काल का ग्रहण करे तथा पाँचवें अनगार नामक अध्ययन के उद्देश,

समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ तीन-तीन बार करे।

छटें दिन :- छटें दिन योगवाही नीवि-तप एवं एक काल का ग्रहण करे तथा छटें आर्द्रा नामक अध्ययन के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ तीन-तीन बार करे।

सातवें दिन :- सातवें दिन योगवाही आयम्बिल-तप एवं एक काल का ग्रहण करे तथा नालिन्दा नामक अध्ययन के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ तीन-तीन बार करे।

आठवें दिन :- आठवें दिन योगवाही आयम्बिल-तप, नंदीक्रिया एवं एक काल का ग्रहण करे तथा श्रुतस्कन्ध के समुद्देश एवं अनुज्ञा की विधि करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ आठ-आठ बार करे।

नवें दिन :- नवें दिन योगवाही आयम्बिल-तप एवं एक काल का ग्रहण करे तथा सूत्रकृतांग के समुद्देश की विधि करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ एक-एक बार करे।

दसवें दिन :- दसवें दिन योगवाही आयम्बिल-तप एवं एक काल का ग्रहण करे तथा सूत्रकृतांग के अनुज्ञा की नंदीक्रिया करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ एक-एक बार करे।

इस प्रकार सूत्रकृतांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध के योग दस दिन के होते हैं। दोनों श्रुतस्कन्धों में कुल मिलाकर तीस दिन, पाँच नंदी एवं तीस काल का ग्रहण होता है। यह कालिक अनागाढ़ योग है। सूत्रकृतांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध के यंत्र का न्यास इस प्रकार है -

सूत्रकृतांग द्वितीय श्रुतस्कन्ध में काल-१०, दिन-१० एवं नंदी-३										
काल	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०
अध्ययन	द्वि.श्रु. उ.न. अ.१	२	३	४	५	६	७	श्रु.स. अ.न.	अं.स.	अं.अ. नं.

काउसग्ग	४	३	३	३	३	३	३	२	१	१
---------	---	---	---	---	---	---	---	---	---	---

अब स्थानांगसूत्र के योगोद्धहन की विधि का उल्लेख है :-

प्रथम दिन :- प्रथम दिन योगवाही आयम्बिल-तप, नंदीक्रिया एवं एक काल का ग्रहण करे। यह क्रिया स्थानांगसूत्र की वाचना के उद्देश्य से की जाती है, साथ ही इसमें श्रुतस्कन्ध के उद्देश तथा प्रथम अध्ययन के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया भी की जाती है। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ पाँच-पाँच बार करे।

द्वितीय दिन :- द्वितीय दिन योगवाही नीवि-तप एवं एक काल का ग्रहण करे। यह क्रिया द्वितीय अध्ययन के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा के उद्देश्य से की जाती है, इसके साथ ही द्वितीय अध्ययन के प्रथम एवं द्वितीय उद्देशक के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की विधि करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ नौ-नौ बार करे।

तृतीय दिन :- तीसरे दिन योगवाही आयम्बिल-तप एवं एक काल का ग्रहण करे तथा द्वितीय अध्ययन के तीसरे और चौथे उद्देशक के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की विधि करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ छः-छः बार करे।

चौथे दिन :- चौथे दिन योगवाही नीवि-तप एवं एक काल का ग्रहण करे। यह क्रिया तृतीय अध्ययन तथा तृतीय अध्ययन के प्रथम एवं द्वितीय उद्देशक के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा के उद्देश्य से की जाती है। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ नौ-नौ बार करे।

पाँचवें दिन :- पाँचवें दिन योगवाही आयम्बिल-तप एवं एक काल का ग्रहण करे तथा तृतीय अध्ययन के तीसरे और चौथे उद्देशक के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की विधि करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ छः-छः बार करे।

छठें दिन :- छठें दिन योगवाही नीवि-तप एवं एक काल का ग्रहण करे तथा चौथे अध्ययन के प्रथम एवं द्वितीय उद्देशक के उद्देश,

समुद्देश एवं अनुज्ञा की विधि करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ नौ-नौ बार करे।

सातवें दिन :- सातवें दिन योगवाही आयम्बिल-तप एवं एक काल का ग्रहण करे तथा चौथे अध्ययन के तीसरे और चौथे उद्देशक के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की विधि करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ छः-छः बार करे।

आठवें दिन :- आठवें दिन योगवाही नीवि-तप एवं एक काल का ग्रहण करे तथा पाँचवें अध्ययन के उद्देश एवं समुद्देश की तथा पाँचवें अध्ययन के प्रथम एवं द्वितीय उद्देशक के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की विधि करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ आठ-आठ बार करे।

नवें दिन :- नवें दिन योगवाही आयम्बिल-तप एवं एक काल का ग्रहण करे तथा पाँचवें अध्ययन के तृतीय उद्देशक के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करे। इसके साथ ही पाँचवें अध्ययन के अनुज्ञा की क्रिया भी करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ चार-चार बार करे।

दसवें दिन :- दसवें दिन योगवाही नीवि-तप एवं एक काल का ग्रहण करे तथा छठे अध्ययन के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ तीन-तीन बार करे।

ग्यारहवें दिन :- ग्यारहवें दिन योगवाही आयम्बिल-तप एवं एक काल का ग्रहण करे तथा सातवें अध्ययन के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की विधि करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ तीन-तीन बार करे।

बारहवें दिन :- बारहवें दिन योगवाही नीवि-तप एवं एक काल का ग्रहण करे तथा आठवें अध्ययन के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की विधि करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ तीन-तीन बार करे।

तेरहवें दिन :- तेरहवें दिन योगवाही आयम्बिल-तप एवं एक काल का ग्रहण करे तथा नवें अध्ययन के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा

की विधि करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ तीन-तीन बार करे।

चौदहवें दिन :- चौदहवें दिन योगवाही नीवि-तप एवं एक काल का ग्रहण करे तथा दसवें अध्ययन के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की विधि करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ तीन-तीन बार करे।

पन्द्रहवें दिन :- पन्द्रहवें दिन योगवाही आयम्बिल-तप एवं एक काल का ग्रहण करे तथा श्रुतस्कन्ध के समुद्देश की विधि करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ एक-एक बार करे।

सोलहवें दिन :- सोलहवें दिन योगवाही आयम्बिल-तप एवं एक काल का ग्रहण करे तथा श्रुतस्कन्ध के अनुज्ञा की नंदीविधि करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ एक-एक बार करे।

सत्रहवें दिन :- सत्रहवें दिन योगवाही आयम्बिल-तप एवं एक काल का ग्रहण करे तथा स्थानांगसूत्र के समुद्देश की विधि करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ एक-एक बार करे।

अठारहवें दिन :- अठारहवें दिन योगवाही आयम्बिल-तप एवं एक काल का ग्रहण करे तथा स्थानांगसूत्र के अनुज्ञा की नंदीविधि करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ एक-एक बार करे।

इस प्रकार स्थानांगसूत्र के योगोद्धहन में कुल अठारह दिन एवं तीन नंदी होती हैं। यह कालिक अनागाढ़ योग है। स्थानांगसूत्र के यंत्र का न्यास इस प्रकार है :-

ठाणांग श्रुतस्कन्ध-१, काल-१८, दिन-१८, नंदी-३ (तीसरा अंग)									
काल	१	२	३	४	५	६	७	८	९
अध्ययन	अं.उ. नं.श्रु. उ.अ. १	२	२	३	३	४	४	५	५
उद्देशक	०	१/२	३/४	१/२	३/४	१/२	३/४	१/२	३

काउसगग	५	६	६	६	६	६	६	८	४
--------	---	---	---	---	---	---	---	---	---

काल	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१७	१८
अध्ययन	६	७	८	६	१०	श्रु. स.	श्रु.अ. नं.	अं.स.	अं.अ. नं.
उद्देशक	०	०	०	०	०	०	०	०	०
काउसगग	३	३	३	३	३	१	१	१	१

अब समवायांग के योगोद्धहन की विधि वर्णित है :-

प्रथम दिन :- प्रथम दिन योगवाही आयम्बिल-तप, नंदीक्रिया एवं एक काल का ग्रहण करे तथा समवायांगसूत्र के उद्देश की विधि करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ एक-एक बार करे।

द्वितीय दिन :- द्वितीय दिन योगवाही आयम्बिल-तप एवं एक काल का ग्रहण करे तथा समवायांगसूत्र के समुद्देश की विधि करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ एक-एक बार करे।

तृतीय दिन :- तृतीय दिन योगवाही आयम्बिल-तप एवं एक काल का ग्रहण करे तथा समवायांगसूत्र के अनुज्ञा की नंदीक्रिया करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ एक-एक बार करे।

इस प्रकार समवायांगसूत्र के योगोद्धहन में कुल तीन दिन तथा दो नंदी होती हैं। यह कालिक आगाढ़ योग है। समवायांग के यंत्र का न्यास इस प्रकार है :-

समवायांग (अंग-४), योगोद्धहन में काल-३, दिन-३, नंदी-२			
दिन	अं.उ.न.आं.	अं.स.आं.	अं.अ.नं.आ.
काल	१	२	३
काउसगग	१	१	१

निशीथसूत्र के योगोद्धहन की विधि इस प्रकार है :-

प्रथम दिन :- प्रथम दिन योगवाही आयम्बिल-तप एवं एक काल का ग्रहण करे। यह क्रिया निशीथसूत्र का जो एक अध्ययन है, उसकी वाचना के उद्देश्य से की जाती है। इसके साथ ही इसी अध्ययन के प्रथम एवं द्वितीय उद्देशक के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया भी करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ सात-सात बार करे।

द्वितीय दिन :- द्वितीय दिन योगवाही नीवि-तप एवं एक काल का ग्रहण करे तथा तीसरे और चौथे उद्देशक के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की विधि करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ छः-छः बार करे।

तृतीय दिन :- तृतीय दिन योगवाही आयम्बिल-तप एवं एक काल का ग्रहण करे तथा पाँचवें और छठें उद्देशक के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की विधि करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ छः-छः बार करे।

चौथे दिन :- चौथे दिन योगवाही नीवि-तप एवं एक काल का ग्रहण करे तथा सातवें और आठवें उद्देशक के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की विधि करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ छः-छः बार करे।

पाँचवें दिन :- पाँचवें दिन योगवाही आयम्बिल-तप एवं एक काल का ग्रहण करे तथा नवें और दसवें उद्देशक के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की विधि करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ छः-छः बार करे।

छठें दिन :- छठें दिन योगवाही नीवि-तप एवं एक काल का ग्रहण करे तथा ग्यारहवें और बारहवें उद्देशक के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की विधि करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ छः-छः बार करे।

सातवें दिन :- सातवें दिन योगवाही आयम्बिल-तप एवं एक काल का ग्रहण करे तथा तेरहवें एवं चौदहवें उद्देशक के उद्देश,

समुद्देश एवं अनुज्ञा की विधि करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ छः-छः बार करे।

आठवें दिन :- आठवें दिन योगवाही नीवि-तप एवं एक काल का ग्रहण करे तथा पन्द्रहवें और सोलहवें उद्देशक के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की विधि करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ छः-छः बार करे।

नवें दिन :- नवें दिन योगवाही आयम्बिल-तप एवं एक काल का ग्रहण करे तथा अठारहवें एवं उन्नीसवें उद्देशक के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की विधि करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ छः-छः बार करे।

दसवें दिन :- दसवें दिन योगवाही नीवि-तप एवं एक काल का ग्रहण करे तथा उन्नीसवें एवं बीसवें उद्देशक के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की विधि करे तथा इसके साथ ही निशीथ के समुद्देश एवं अनुज्ञा की विधि भी करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ आठ-आठ बार करे।

ग्यारहवें दिन :- ग्यारहवें दिन योगवाही आयम्बिल-तप एवं एक काल का ग्रहण करे तथा श्रुतस्कन्ध के समुद्देश की क्रिया करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ एक-एक बार करे।

बारहवें दिन :- बारहवें दिन योगवाही आयम्बिल-तप एवं एक काल का ग्रहण करे तथा श्रुतस्कन्ध की नंदीक्रिया करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ एक-एक बार करे।

इस प्रकार निशीथसूत्र के योगोद्धहन में बारह दिन एवं एक नंदी होती है। यह कालिक आगाढ़ योग है। इसके यंत्र का न्यास इस प्रकार है -

निशीथसूत्र योग में :- काल-१२, दिन-१२, नंदी-१							
काल	१	२	३	४	५	६	७
अध्ययन	१	१	१	१	१	१	१
उद्देशक	१/२	३/४	५/६	७/८	९/१०	११/१२	१३/१४

काउसग्ग	७	६	६	६	६	६	६
---------	---	---	---	---	---	---	---

काल	८	९	१०	११	१२
अध्ययन	१	१	नी.स.	श्रु.स.	श्रु.अ.नं.
उद्देशक	१५/१६	१७/१८	१९/२०	०	०
काउसग्ग	६	६	८	१	१

कल्प, व्यवहार एवं दशासूत्र के भी एक-एक श्रुतस्कन्ध हैं। कल्प के योग में तीन दिन, व्यवहार के योग में पाँच दिन, दशाश्रुतस्कन्ध के योग में बारह दिन - इस प्रकार कुल तीनों के योगों के बीस दिन होते हैं तथा दो बार नंदी होती हैं। यहाँ कुछ लोग कल्प और व्यवहार का एक ही श्रुतस्कन्ध बताते हैं; तथा कुछ लोग पंचकल्प के अनुसार व्यवहार एवं दशाश्रुतस्कन्ध का एक श्रुतस्कन्ध बताते हैं।

निशीथसूत्र के योग उद्देश, अर्थात् वाचना की अपेक्षा से दस दिन के होते हैं। यह कालिक अनागाढ़ योग है, साथ ही आचारांग की पंचम चूला होने के कारण इसमें नंदीक्रिया नहीं होती है। (किन्तु इन दस दिनों के पश्चात् ग्यारहवें दिन निशीथसूत्र के समुद्देश हेतु एवं बारहवें दिन अनुज्ञा हेतु क्रिया की जाती है। इस अपेक्षा से पूर्व में निशीथसूत्र के योग बारह दिन के भी बताए गए हैं। अतः दोनों मान्यताओं में विशेष भेद नहीं है।)

छेदसूत्रों में जीतकल्प और पंचकल्प का समावेश होने से उनके योगों की विधि भी यहाँ बताई गई है। जीतकल्प का योग एक ही दिन का बताया गया है। इसके उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा के लिए नीवि तथा एक ही काल का ग्रहण होता है। इसमें नंदीक्रिया नहीं होती है। इसकी क्रियाविधि में योगवाही तीन बार मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना करे, तीन बार द्वादशावर्तवन्दन करे, तीन बार खमासमणासूत्रपूर्वक वन्दन करे तथा तीन बार कायोत्सर्ग करे।

पंचकल्प के योग में उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा हेतु आयम्बिल करे तथा एक काल का ग्रहण करे। इसमें नंदीक्रिया नहीं होती है।

इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ तीन-तीन बार करे।

कल्प अध्ययन के छठे दिन योगवाही नीवि-तप एवं एक काल का ग्रहण करे तथा उसके छठे अध्ययन के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की विधि करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ तीन-तीन बार करे।

सातवें दिन योगवाही आयम्बिल-तप एवं एक काल का ग्रहण करे तथा सातवें अध्ययन के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की विधि करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ तीन-तीन बार करे।

आठवें दिन योगवाही नीवि-तप एवं एक काल का ग्रहण करे तथा आठवें अध्ययन के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की विधि करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ तीन-तीन बार करे।

नवें दिन योगवाही आयम्बिल-तप एवं एक काल का ग्रहण करे तथा नवें अध्ययन के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की विधि करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ तीन-तीन बार करे।

अब ज्ञाताधर्मकथा के योगोद्धहन की विधि का विवेचन है। ज्ञाताधर्मकथांग में दो श्रुतस्कन्ध हैं। यहाँ सर्वप्रथम पहले श्रुतस्कन्ध के योगोद्धहन की विधि का उल्लेख है -

प्रथम दिन :- प्रथम दिन योगवाही आयम्बिल, नंदीक्रिया एवं एक काल का ग्रहण करे। यह क्रिया छठे अंगसूत्र एवं उसके प्रथम श्रुतस्कन्ध के उद्देश एवं उसके प्रथम अध्ययन के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा के उद्देश्य से की जाती है। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पाँच बार मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना करे, पाँच बार द्वादशावर्तवन्दन करे, पाँच बार खमासमणासूत्रपूर्वक वन्दन करे एवं पाँच बार कायोत्सर्ग करे।

द्वितीय दिन :- द्वितीय दिन योगवाही नीवि-तप एवं एक काल का ग्रहण करे तथा द्वितीय अध्ययन के उद्देश, समुद्देश एवं

अनुज्ञा की विधि करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ तीन-तीन बार करे।

तृतीय दिन :- तृतीय दिन योगवाही आयम्बिल-तप एवं एक काल का ग्रहण करे तथा तृतीय अध्ययन के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की विधि करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ तीन-तीन बार करे।

चौथे दिन :- चौथे दिन योगवाही नीवि-तप एवं एक काल का ग्रहण करे तथा चौथे अध्ययन के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की विधि करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ तीन-तीन बार करे।

इस प्रकार एकान्तर आयम्बिल, नीवि एवं कालग्रहण के द्वारा प्रथम श्रुतस्कन्ध के उन्नीस अध्यायों के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की विधि करे तथा इसकी क्रियाविधि में योगवाही प्रतिदिन पूर्ववत् सभी क्रियाएँ तीन-तीन बार करे। तत्पश्चात्

बीसवें दिन :- बीसवें दिन योगवाही नंदीक्रिया, आयम्बिल एवं एक काल का ग्रहण करे तथा श्रुतस्कन्ध के समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ दो-दो बार करे।

इस प्रकार ज्ञाता नामक प्रथम श्रुतस्कन्ध के योग में कुल बीस दिन होते हैं तथा दो बार नंदीक्रिया होती है। यह कालिक अनागाढ़ योग है। ज्ञाता श्रुतस्कन्ध के यंत्र का न्यास इस प्रकार है :-

ज्ञाताधर्मकथा के प्रथम श्रुत के योग में :- काल-२०, दिन-२०, नंदी-२ (अनागाढ़ योग)										
काल	१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १०									
अध्ययन	अं.उ.नं.श्रु.उ.स.१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १०									
काउसगग	५ ३ ३ ३ ३ ३ ३ ३ ३ ३									
काल	११	१२	१३	१४	१५	१६	१७	१८	१९	२०
अध्ययन	११	१२	१३	१४	१५	१६	१७	१८	१९	श्रु.स.अ.नं.
काउसगग	३	३	३	३	३	३	३	३	३	२

अब द्वितीय धर्मकथा श्रुतस्कन्ध के योगोद्धहन की विधि निम्नानुसार है :-

ज्ञाताधर्मकथासूत्र के द्वितीय धर्मकथा श्रुतस्कन्ध के दस वर्ग हैं, उनमें क्रमशः दस-दस, चौपन-चौपन, बत्तीस-बत्तीस, चार-चार, आठ-आठ अध्ययन हैं। उनके अध्ययनों के आदि और अन्त में नामभेद को छोड़कर शेष सब समान हैं।

प्रथम दिन :- प्रथम दिन योगवाही नंदीक्रिया, आयम्बिल-तप एवं एक काल का ग्रहण करे। यह क्रिया ज्ञाताधर्मकथा के धर्मकथा नामक द्वितीय श्रुतस्कन्ध तथा उसके प्रथम वर्ग की वाचना के उद्देश्य से की जाती है। पुनः यहाँ प्रथम वर्ग के आदि के पाँच एवं अन्तिम के पाँच - ऐसे दसों अध्ययनों के उद्देश की क्रिया करे। तत्पश्चात् पुनः प्रथम वर्ग के आदि के पाँच एवं अन्तिम के पाँच - ऐसे दसों अध्ययनों के समुद्देश की तथा उसके बाद उनके अनुज्ञा की क्रिया करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही दस बार मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना करे, दस बार द्वादशावर्तवन्दन करे, दस बार खमासमणा सूत्रपूर्वक वन्दन करे तथा दस बार कायोत्सर्ग करे। (समुद्देश और अनुज्ञा की क्रिया में सभी क्रियाएँ पूर्ववत् आठ-आठ बार होती हैं।)

द्वितीय दिन :- द्वितीय दिन योगवाही नीवि-तप एवं एक काल का ग्रहण करे। यह क्रिया द्वितीय वर्ग तथा उसके आदि के पाँच एवं अन्त के पाँच - ऐसे दस अध्ययनों की वाचना के उद्देश्य से की जाती है। तत्पश्चात् द्वितीय वर्ग तथा उसके आदि के पाँच एवं अन्त के पाँच - ऐसे दस अध्ययनों के समुद्देश की क्रिया करे। पुनः द्वितीय वर्ग के तथा उसके आदि के पाँच एवं अन्त के पाँच - ऐसे दस अध्ययनों के अनुज्ञा की क्रिया करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही नौ बार मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना करे, नौ बार द्वादशावर्तवन्दन करे, नौ बार खमासमणासूत्रपूर्वक वन्दन करे एवं नौ बार कायोत्सर्ग करे।

इसी प्रकार आठ दिनों में क्रमशः आयम्बिल, नीवि एवं कालग्रहण के द्वारा द्वितीय श्रुतस्कन्ध के शेष आठ वर्गों तथा उनके अध्ययनों के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की विधि करे तथा इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ नौ-नौ बार करे।

ग्यारहवें दिन :- ग्यारहवें दिन योगवाही आयम्बिल-तप, नंदीक्रिया एवं एक काल का ग्रहण करे तथा ज्ञाताधर्मकथा के द्वितीय श्रुतस्कन्ध के समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ दो-दो बार करे।

बारहवें दिन :- बारहवें दिन योगवाही नीवि-तप एवं एक काल का ग्रहण करे तथा ज्ञाताधर्मकथा के समुद्देश की क्रिया करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ एक-एक बार करे।

तेरहवें दिन :- तेरहवें दिन योगवाही आयम्बिल-तप, नंदीक्रिया एवं एक काल का ग्रहण करे तथा ज्ञाताधर्मकथा के अनुज्ञा की क्रिया करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ एक-एक बार करे।

इस प्रकार ज्ञाताधर्मकथा के द्वितीय श्रुतस्कन्ध के योग तेरह दिन से पूरे होते हैं। द्वितीय श्रुतस्कन्ध के यंत्र का न्यास इस प्रकार है:-

ज्ञाताधर्मकथा के द्वितीय श्रुतस्कन्ध के योग में :- काल-१३, दिन-१३ एवं नंदी-३ - अनागाढ़					
काल	१	२	३	४	५
वर्ग	द्वि.श्रु.उ.नं. १	२	३	४	५
अध्ययन	आ.-५, अं.-५	आ.-५, अं.-५	आ.-२७, अं.-२७	आ.-२७, अं.-२७	आ.-१६, अं.-१६
काउसगग	८	६	६	६	६

काल	६	७	८	९	१०
वर्ग	६	७	८	९	१०
अध्ययन	आ.-१६, अं.-१६	आ.-२, अं.-२	आ.-२, अं.-२	आ.-४, अं.-४	आ.-४, अं.-४
काउसगग	६	६	६	६	६
काल	११		१२		१३
वर्ग	द्वि. श्रु. स. अ. नं.		अं. स.		अं. अ. न.
अध्ययन	०		०		०

काउसगग	२	१	१
--------	---	---	---

इस प्रकार ज्ञाताधर्मकथा के दोनों श्रुतस्कन्धों के योगों में कुल दिन-तैंतीस एवं नंदी-पाँच होती हैं। यह कालिक अनागाढ़ योग है।

अब उपासकदशांगसूत्र के योगोद्धहन की विधि उल्लिखित है। उपासकदशांग में एक श्रुतस्कन्ध और दस अध्ययन हैं। इसके योग में:-

प्रथम दिन :- योगवाही नंदीक्रिया, आयम्बिल-तप एवं एक काल का ग्रहण करे। यह क्रिया उपासकदशांग तथा उसके श्रुतस्कन्ध के वाचना के उद्देश्य से की जाती है, इसके साथ ही योगवाही प्रथम अध्ययन के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया भी करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पाँच बार मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना करे, पाँच बार द्वादशावर्त्तवन्दन करे, पाँच बार खमासमणासूत्रपूर्वक वन्दन करे एवं पाँच बार कायोत्सर्ग करे।

द्वितीय दिन :- योगवाही नीवि-तप एवं एक काल का ग्रहण करे तथा द्वितीय अध्ययन के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ तीन-तीन बार करे।

इस प्रकार तृतीय दिन से लेकर दस दिनों तक कालग्रहण एवं आयम्बिल तथा नीवि द्वारा तृतीय अध्ययन से लेकर दस अध्ययनों के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करे तथा प्रत्येक दिन योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ तीन-तीन बार करे।

ग्यारहवें दिन :- ग्यारहवें दिन योगवाही आयम्बिल-तप एवं एक काल का ग्रहण करे तथा श्रुतस्कन्ध के समुद्देश की क्रिया करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ एक-एक बार करे।

बारहवें दिन :- बारहवें दिन योगवाही आयम्बिल-तप एवं एक काल का ग्रहण करे तथा श्रुतस्कन्ध के अनुज्ञा की नंदीक्रिया करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ एक-एक बार करे।

तेरहवें दिन :- तेरहवें दिन योगवाही आयम्बिल-तप एवं एक काल का ग्रहण करे तथा उपासकदशांग के समुद्देश की क्रिया करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ एक-एक बार करे।

चौदहवें दिन :- चौदहवें दिन योगवाही आयम्बिल-तप, नंदीक्रिया एवं एक काल का ग्रहण करे तथा उपासकदशांग के अनुज्ञा की क्रिया करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ एक-एक बार करे।

इस प्रकार उपासकदशांग के योग में कुल चौदह दिन एवं तीन बार नंदीक्रिया होती है। यह कालिक अनागाढ़ योग है। इसके यंत्र का न्यास इस प्रकार है :-

उपासकदशांग श्रुतस्कन्ध के योग में :- काल-१४, दिन-१४, नंदी-३, अनागाढ़									
काल	१	२	३	४	५	६	७	८	९
अध्ययन	अं.उ.नं.१ श्रु.उ.अ.	२	३	४	५	६	७	८	९
काउसग्ग	५	३	३	३	३	३	३	३	३

काल	१०	११	१२	१३	१४
अध्ययन	१०	श्रु.स.	श्रु.अ.नं.	अं.स.	अं.अं.नं.
काउसग्ग	३	१	१	१	१

अब अन्तकृतदशांगसूत्र के योगोद्धहन की विधि वर्णित हैं। अन्तकृतदशांग में एक ही श्रुतस्कन्ध हैं। उसके आठ वर्ग हैं। उन आठ वर्गों में क्रमशः दस, आठ, तेरह, दस, दस, सोलह, तेरह एवं दस अध्ययन हैं। इस सूत्र के योगोद्धहन की विधि निम्नांकित है -

प्रथम दिन :- प्रथम दिन योगवाही आयम्बिल-तप, नंदीक्रिया एवं एक काल का ग्रहण करे। यह क्रिया अन्तकृतदशांग, उसके श्रुतस्कन्ध एवं उसके प्रथम वर्ग के वाचन के उद्देश्य से की जाती है। पुनः यहाँ प्रथम वर्ग तथा उसके आदि के पाँच एवं अन्त के पाँच - ऐसे दसों अध्ययनों के उद्देश्य की क्रिया करे। तत्पश्चात् प्रथम वर्ग तथा

उसके आदि के पाँच एवं अन्त के पाँच - ऐसे दसों अध्ययनों के समुद्देश की क्रिया करे। पुनः प्रथम वर्ग तथा उसके आदि के पाँच एवं अन्त के पाँच - ऐसे दसों अध्ययनों के अनुज्ञा की क्रिया करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही ग्यारह बार मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना करे, ग्यारह बार द्वादशावर्तवन्दन करे, ग्यारह बार खमासमणासूत्रपूर्वक वन्दन करे एवं ग्यारह बार कायोत्सर्ग करे।

द्वितीय दिन :- दूसरे दिन योगवाही नीवि-तप एवं एक काल का ग्रहण करे। यह क्रिया द्वितीय वर्ग तथा उसके आदि के चार एवं अन्त तक के चार - ऐसे आठ अध्ययनों के वांचन के उद्देश्य से की जाती है। पुनः यहाँ द्वितीय वर्ग तथा उसके आदि के चार एवं अन्त के चार - ऐसे आठ अध्ययनों के समुद्देश की क्रिया करे। तत्पश्चात् द्वितीय वर्ग तथा उसके आदि के चार और अन्त के चार - ऐसे आठ अध्ययनों के अनुज्ञा की क्रिया करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ नौ-नौ बार करे।

इस प्रकार तृतीय दिन से लेकर आठ दिनों तक कालग्रहण एवं क्रमशः आयम्बिल, नीवि द्वारा तृतीय वर्ग से लेकर आठों वर्गों तथा उनके अध्ययनों के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ नौ-नौ बार करे।

नवें दिन :- नवें दिन योगवाही आयम्बिल-तप एवं एक काल का ग्रहण करे तथा अन्तकृतदशांग के श्रुतस्कन्ध के समुद्देश की क्रिया करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ एक-एक बार करे।

दसवें दिन :- दसवें दिन योगवाही आयम्बिल-तप, नंदीक्रिया एवं एक काल का ग्रहण करे तथा अन्तकृतदशांग के श्रुतस्कन्ध के अनुज्ञा की क्रिया करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ एक-एक बार करे।

ग्यारहवें दिन :- ग्यारहवें दिन योगवाही आयम्बिल-तप एवं एक काल का ग्रहण करे तथा अन्तकृतदशांग के समुद्देश की क्रिया करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ एक-एक बार करे।

बारहवें दिन :- बारहवें दिन योगवाही आयम्बिल-तप एवं एक काल का ग्रहण करे तथा अन्तकृतदशांग सूत्र के अनुज्ञा की नदीक्रिया करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ एक-एक बार करे।

इस प्रकार अन्तकृतदशांगसूत्र के योग में कुल दिन बारह तथा तीन नदी होती हैं। यह आगाढ़ योग है, इसके यंत्र का न्यास इस प्रकार है :-

अंतगडदशांग श्रुतस्कंध के योग में दिन-१२, कालग्रहण-१२, नदी-३, आगाढ़						
काल	१	२	३	४	५	६
वर्ग	अं.उ.नं.श्रु. उ.व.-१	२	३	४	५	६
अध्ययन	आ.-५, अं.-५	आ.-४, अं.-४	आ.-७, अं.-६	आ.-५, अं.-५	आ.-५, अं.-५	आ.-८, अं.-८
काउसग	११	६	६	६	६	६

काल	७	८	९	१०	११	१२
वर्ग	७	८	श्रु.स.	श्रु.अ.नं.	अं.स.	अं.अ.नं.
अध्ययन	आ.-७, अं.-६	आ.-५, अं.-५	०	०	०	०
काउसग	६	६	१	१	१	१

अब अनुत्तरोपपातिक दशांगसूत्र के योगोद्धहन की विधि वर्णित है। अनुत्तरोपपातिक- दशांग में एक श्रुतस्कन्ध एवं तीन वर्ग है। तीनों वर्ग में क्रमशः दस, तेरह एवं दस अध्ययन हैं। इस सूत्र के योगोद्धहन की विधि निम्नानुसार है :-

प्रथम दिन :- प्रथम दिन योगवाही आयम्बिल-तप, नदीक्रिया एवं एक काल का ग्रहण करे। यह क्रिया अनुत्तरोपपातिकदशांग, श्रुतस्कन्ध तथा उसके प्रथम वर्ग के वांचन के उद्देश्य से की जाती है।

पुनः यहाँ प्रथम वर्ग के आदि के पाँच एवं अन्त के पाँच - ऐसे दसों अध्ययनों के उद्देश की क्रिया करे। तत्पश्चात् प्रथम वर्ग तथा उसके आदि के पाँच एवं अन्त के पाँच - ऐसे दसों अध्ययनों के समुद्देश की तथा उसके बाद उनके अनुज्ञा की क्रिया करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही ग्यारह बार मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना करे, ग्यारह बार द्वादशावर्तवन्दन करे, ग्यारह बार खमासमणासूत्रपूर्वक वन्दन करे एवं ग्यारह बार कायोत्सर्ग करे।

द्वितीय दिन :- दूसरे दिन योगवाही नीवि-तप एवं एक काल का ग्रहण करे। यह क्रिया द्वितीय वर्ग तथा उसके आदि के सात एवं अन्त के छः - ऐसे तेरह अध्ययनों के वाचना के उद्देश्य से की जाती है। पुनः द्वितीय वर्ग एवं उसके आदि के सात एवं अन्त के छः - ऐसे तेरह अध्ययनों के समुद्देश की तथा उसके बाद उनके अनुज्ञा की क्रिया करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही सभी क्रियाएँ नौ-नौ बार करे।

तृतीय दिन :- तीसरे दिन योगवाही आयम्बिल-तप एवं एक काल का ग्रहण करे। यह क्रिया तृतीय वर्ग तथा उसके आदि के पाँच एवं अन्त के पाँच - ऐसे दसों अध्ययनों के वाचन के उद्देश्य से की जाती है। पुनः तृतीय वर्ग एवं उसके आदि के पाँच एवं अन्त के पाँच - ऐसे दसों अध्ययनों के समुद्देश की तथा उसके बाद उसके अनुज्ञा की क्रिया करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ नौ-नौ बार करे।

चौथे दिन :- चौथे दिन योगवाही आयम्बिल-तप तथा एक काल का ग्रहण करे एवं श्रुतस्कन्ध के समुद्देश की क्रिया करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ एक-एक बार करे।

पाँचवें दिन :- पाँचवें दिन योगवाही आयम्बिल-तप, एक काल का ग्रहण एवं नंदीक्रिया करे तथा श्रुतस्कन्ध के अनुज्ञा की क्रिया करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ एक-एक बार करे।

छटें दिन :- छटें दिन योगवाही आयम्बिल-तप एवं एक काल का ग्रहण करे तथा अनुत्तरोपपातिकदशांग के समुद्देश की क्रिया करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ एक-एक बार करे।

सातवें दिन :- सातवें दिन योगवाही आयम्बिल-तप एवं एक काल का ग्रहण करे तथा अनुत्तरोपपातिकदशांग के अनुज्ञा की नंदीक्रिया करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ एक-एक बार करे।

इस प्रकार अनुत्तरोपपातिकदशांग के योग में कुल सात दिन तथा तीन नंदी होती हैं। यह अनागाढ़ योग है। इसके यंत्र का न्यास इस प्रकार है :-

द्वां अंग अनुत्तरोपपातिकदशांग श्रुतस्कन्ध के योग में काल-७, दिन-७, नंदी-३, अनागाढ़							
काल	१	२	३	४	५	६	७
वर्ग	अं.उ.नं.श्रु. -उ. व.-१	२	३	श्रु. स.	श्रु. अ.नं.	अं. स.	अं.अ. नं.
अध्ययन	आ.-५, अं.-५	आ.-७, अं.-६	आ.-५, अं.-५	०	०	०	०
काउसगग	११	६	६	१	१	१	१

अब प्रश्नव्याकरणसूत्र के योगोद्धहन की विधि का विवेचन है:- प्रश्नव्याकरणसूत्र में एक श्रुतस्कन्ध है, जिसके योग की विधि निम्नांकित है :-

प्रथम दिन :- प्रथम दिन योगवाही आयम्बिल-तप, नंदीक्रिया एवं एक काल का ग्रहण करे। यह क्रिया प्रश्नव्याकरण तथा उसके श्रुतस्कन्ध के वाचन के उद्देश से की जाती है। इसके साथ ही श्रुतस्कन्ध के प्रथम अध्ययन के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया भी करे। इसके लिए योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ पाँच-पाँच बार करे।

द्वितीय दिन :- दूसरे दिन योगवाही नीवि-तप एवं एक काल का ग्रहण करे तथा द्वितीय अध्ययन के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की

क्रिया करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ तीन-तीन बार करे।

इस प्रकार तीसरे दिन से लेकर दस दिनों तक काल ग्रहण एवं क्रमशः आयम्बिल, नीवि-तप के द्वारा तीसरे अध्ययन से लेकर दस तक के अध्ययनों के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करे तथा प्रत्येक दिन योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ तीन-तीन बार करे।
तत्पश्चात्

ग्यारहवें दिन :- ग्यारहवें दिन योगवाही आयम्बिल-तप एवं एक काल का ग्रहण करे तथा श्रुतस्कन्ध के समुद्देश की क्रिया करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ एक-एक बार करे।

बारहवें दिन :- बारहवें दिन योगवाही आयम्बिल, नंदीक्रिया एवं एक काल का ग्रहण करे तथा श्रुतस्कन्ध के अनुज्ञा की क्रिया करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ एक-एक बार करे।

तेरहवें दिन :- तेरहवें दिन योगवाही आयम्बिल एवं एक काल का ग्रहण करे तथा प्रश्नव्याकरणसूत्र के समुद्देश की क्रिया करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ एक-एक बार करे।

चौदहवें दिन :- चौदहवें दिन योगवाही आयम्बिल, नंदीक्रिया एवं एक काल का ग्रहण करे तथा प्रश्नव्याकरणसूत्र के अनुज्ञा की क्रिया करे। इस सूत्र के योग में सभी दिनों में आयुक्तपानक' करे। प्रश्नव्याकरणांग के योग में कुल चौदह दिन एवं तीन नंदी होती हैं। यह अनागाढ़ योग है। इसके यंत्र का न्यास इस प्रकार है :-

प्रश्नव्याकरणांग श्रुतस्कन्ध के योग में कालग्रहण-१४, दिन-१४, नंदी-३, अनागाढ़ योग							
काल	१	२	३	४	५	६	७
अध्ययन	अं.उ.नं.श्रु.उ.अ.-१	२	३	४	५	६	७
काउसगग	५	३	३	३	३	३	३

काल	८	९	१०	११	१२	१३	१४
अध्ययन	८	९	१०	श्रु.स.	श्रु.अ.नं.	अं.स.	अं.अ.नं.
काउसग्ग	३	३	३	१	१	१	१

१. आयुक्तपानक - इसमें साधु को अमुक प्रकार का धान्य लेने का एवं लोह आदि धातुओं के स्पर्श करने का निषेध रहता है। - पूज्य जम्बूविजयजी म.सा. ने इसका यह अर्थ बताया है।

अब विपाकश्रुतांग के योगोद्धहन की विधि बताई जा रही है। विपाकश्रुतांग में दो श्रुतस्कन्ध हैं। यहाँ सर्वप्रथम प्रथम श्रुतस्कन्ध के योग की विधि दी गई है :-

प्रथम दिन :- प्रथम दिन योगवाही आयम्बिल, नंदीक्रिया एवं एक काल का ग्रहण करे। यह क्रिया विपाकश्रुतांग तथा उसके प्रथम श्रुतस्कन्ध के वाचन के उद्देश्य से की जाती है। इसके साथ ही प्रथम अध्ययन के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया भी करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पाँच बार मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना करे, पाँच बार द्वादशावर्तवन्दन करे, पाँच बार खमासमणासूत्रपूर्वक वन्दन करे एवं पाँच बार कायोत्सर्ग करे।

द्वितीय दिन :- दूसरे दिन योगवाही नीवि एवं एक काल का ग्रहण करे तथा द्वितीय अध्ययन के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ तीन-तीन बार करे।

इस प्रकार तीसरे दिन से लेकर दस दिनों तक कालग्रहण एवं क्रमशः आयम्बिल, नीवि-तप के द्वारा तीसरे अध्ययन से लेकर दसों अध्ययनों के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करे तथा प्रत्येक दिन पूर्ववत् सभी क्रियाएँ तीन-तीन बार करे।

ग्यारहवें दिन :- ग्यारहवें दिन योगवाही आयम्बिल-तप, नंदीक्रिया एवं एक काल का ग्रहण करे तथा श्रुतस्कन्ध के समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ तीन-तीन बार करे।

इस प्रकार विपाकश्रुत के प्रथम श्रुतस्कन्ध के योग में कुल ग्यारह दिन एवं दो नंदी होती हैं। यह अनागाढ़ योग है। इसके यंत्र का न्यास इस प्रकार है :-

विपाकश्रुतांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के योग में :- काल-११, दिन-११, नंदी-२, अनागाढ़ योग											
काल	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११
अध्ययन	अं.उ.नं. प्र.श्रु.उ. अ.-१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	प्र.श्रु. स.अ. नं.आं.
काउसग	५	३	३	३	३	३	३	३	३	३	३

अब विपाकश्रुतांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध के योग की विधि इस प्रकार है :-

प्रथम दिन :- प्रथम दिन योगवाही आयम्बिल-तप, नंदीक्रिया एवं एक काल का ग्रहण करे तथा द्वितीय श्रुतस्कन्ध के उद्देश की क्रिया करे। इसके साथ ही योगवाही प्रथम अध्ययन के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया भी करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही चार बार मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना करे, चार बार द्वादशावर्तवन्दन करे, चार बार खमासमणासूत्रपूर्वक वन्दन करे एवं चार बार कायोत्सर्ग करे।

द्वितीय दिन :- दूसरे दिन योगवाही नीवि-तप एवं एक काल का ग्रहण करे तथा द्वितीय अध्ययन के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ तीन-तीन बार करे।

इस प्रकार तीसरे दिन से लेकर दस दिनों तक कालग्रहण एवं क्रमशः आयम्बिल, नीवि-तप के द्वारा तीसरे अध्ययन से लेकर दस

तक के अध्ययनों के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ तीन-तीन बार करे।

ग्यारहवें दिन :- ग्यारहवें दिन योगवाही आयम्बिल-तप, नंदीक्रिया एवं एक काल का ग्रहण करे तथा द्वितीय श्रुतस्कन्ध के समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ दो-दो बार करे।

बारहवें दिन :- बारहवें दिन योगवाही आयम्बिल-तप एवं एक काल का ग्रहण करे तथा विपाकश्रुतांग के समुद्देश की क्रिया करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ एक-एक बार करे।

तेरहवें दिन :- तेरहवें दिन योगवाही आयम्बिल-तप, नंदीक्रिया एवं एक काल का ग्रहण करे तथा विपाकश्रुतांग के अनुज्ञा की क्रिया करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ एक-एक बार करे।

इस प्रकार विपाकश्रुतांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध के योग में कुल दिन तेरह एवं तीन नंदी होती हैं। यह कालिक अनागाढ़ योग है। विपाकश्रुतांग के दोनों श्रुतस्कन्धों के योग में कुल चौबीस दिन तथा पाँच नंदी होती हैं। इसके यंत्र का न्यास इस प्रकार है -

विपाकश्रुतांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध के योग में - काल-१३, दिन-१३, नंदी-३									
काल	१	२	३	४	५	६	७	८	९
अध्ययन	द्वि.श्रु.उ.नं.अ.-१	२	३	४	५	६	७	८	९
काउसग्ग	४	३	३	३	३	३	३	३	३

काल	१०	११	१२	१३
अध्ययन	१०	श्रु.स.अ.नं.	अं.स.	अं.अ.नं.
काउसग्ग	३	२	१	१

अब निरयावलिका उपांग के योगोद्धहन की विधि वर्णित है। अन्तकृद्दशांग आदि पाँच अंगों से प्रतिबद्ध निरयावलिका-उपांग में एक

श्रुतस्कन्ध है। उसके पाँच वर्ग है। निरयावलिकासूत्र के योग की विधि निम्नांकित है :-

प्रथम दिन :- प्रथम दिन योगवाही आयम्बिल-तप, नंदीक्रिया एवं एक काल का ग्रहण करे। यह क्रिया निरयावलिका के श्रुतस्कन्ध, प्रथम वर्ग एवं उसके आदि के पाँच एवं अन्त के पाँच - ऐसे दसों अध्ययनों के वांचन के उद्देश्य से की जाती है। तत्पश्चात् वर्ग तथा आदि के पाँच एवं अन्त के पाँच - ऐसे दसों अध्ययनों के समुद्देश की क्रिया करे। पुनः वर्ग तथा आदि के पाँच एवं अन्त के पाँच - ऐसे दसों अध्ययनों के अनुज्ञा की क्रिया करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही दस बार मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना करे, दस बार द्वादशावर्तवन्दन करे, दस बार खमासमणासूत्रपूर्वक वन्दन करे एवं दस बार कायोत्सर्ग करे।

द्वितीय दिन :- द्वितीय दिन योगवाही नीवि-तप एवं एक काल का ग्रहण करे। यह क्रिया द्वितीय वर्ग तथा उसके आदि के पाँच एवं अन्त के पाँच - ऐसे दसों अध्ययनों के वांचन के उद्देश्य से की जाती है। तत्पश्चात् द्वितीय वर्ग तथा उसके आदि के पाँच एवं अन्त के पाँच - ऐसे दसों अध्ययनों के समुद्देश की तथा अनुज्ञा की क्रिया क्रमशः करे।

इस प्रकार तीसरे दिन से लेकर पाँचवें दिन तक कालग्रहण एवं क्रमशः आयम्बिल, नीवि-तप के द्वारा तीसरे वर्ग से लेकर पाँचवें वर्ग के तथा उनके अध्ययनों के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ नौ-नौ बार करे।

छठवें दिन :- छठें दिन योगवाही आयम्बिल-तप एवं एक काल का ग्रहण करे तथा निरयावलिका के श्रुतस्कन्ध के समुद्देश की क्रिया करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ एक-एक बार करे।

सातवें दिन :- सातवें दिन योगवाही आयम्बिल-तप, नंदीक्रिया एवं एक काल का ग्रहण करे तथा श्रुतस्कन्ध के अनुज्ञा की

क्रिया करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ एक-एक बार करे।

इस प्रकार निरयावलिका श्रुतस्कन्ध के योग सात दिन में पूर्ण होते हैं तथा दो नंदी होती हैं। यह कालिक-आगाढ़योग है। इसके यंत्र का न्यास इस प्रकार है :-

अन्तकृद्दशांग आदि पाँच अंगों से प्रतिबद्ध निरयावलिका के श्रुतस्कन्ध के योग में - काल-७, दिन-७, नंदी-२				
काल	१ श्रु.उ.नं.	२	३	
वर्ग	१	२	३	
अध्ययन	आ.-५, अं.-५	आ.-५, अं.-५	आ.-५, अं.-५	
काउसग्ग	१०	६	६	
काल	४	५	६	७
वर्ग	४	५	श्रु. स.	श्रु. अ. नं.
अध्ययन	आ.-५, अं.-५	आ.-६, अं.-६	०	०
काउसग्ग	६	६	१	१

आचारांग के उपांग औपपातिक उत्कालिकसूत्र के योग में उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा हेतु तीन आयम्बिल किए जाते हैं।

सूत्रकृतांग के उपांग राजप्रश्नीय उत्कालिकसूत्र के योग में उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा हेतु तीन आयम्बिल किए जाते हैं।

स्थानांग के उपांग जीवाजीवाभिगम उत्कालिकसूत्र के योग में उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा हेतु तीन आयम्बिल किए जाते हैं।

समवायांग के उपांग प्रज्ञापना उत्कालिकसूत्र के योग में उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा हेतु तीन आयम्बिल किए जाते हैं।

भगवती-अंग के उपांग सूर्यप्रज्ञप्ति कालिकसूत्र के योग में उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा हेतु तीन आयम्बिल एवं तीन कालग्रहण किए जाते हैं। ज्ञाताधर्मकथांग के उपांग जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति कालिकसूत्र के

योग में उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा हेतु तीन आयम्बिल एवं तीन कालग्रहण किए जाते हैं।

उपासकदशांग के उपांग चंद्रप्रज्ञप्ति कालिकसूत्र के योग में उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा हेतु तीन आयम्बिल एवं तीन कालग्रहण किए जाते हैं। कालिक सूत्रों में ही संघट्ट होता है, उत्कालिक सूत्रों के योगों में संघट्ट नहीं होता है।

अन्तकृतदशांग से विपाक अंग के अंत तक के अंगों के उपांग रूप निरयावलिकासूत्र के योग की विधि पूर्व में बताई जा चुकी है। निरयावलिका उपांग के अतिरिक्त अन्य उपांग सूत्रों के योग में नंदीक्रिया नहीं होती है। निरयावलिका को छोड़कर सभी उपांगों की क्रिया में एक बार मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना करे, एक बार खमासमणासूत्रपूर्वक वन्दन करे, एक बार द्वादशावर्तवन्दन करे एवं एक बार कायोत्सर्ग करे। निरयावलिका सूत्र में पाँच वर्ग हैं - १. कल्पिका २. कल्पावंतसिका ३. पुष्पिका ४. पुष्पचूलिका एवं ५. बहिदशा।

१. औपपातिक २. राजप्रश्नीय ३. जीवाभिगम एवं ४. प्रज्ञापना - इन चार उपांगों के योग अन्य योग के मध्य में नीवि के दिन आयम्बिल करके उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा के द्वारा पूर्ण कर सकते हैं। उस दिन उसके निमित्त से बारह बार मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना करे, बारह बार खमासमणासूत्रपूर्वक वन्दन करे, बारह बार द्वादशावर्तवन्दन करे तथा बारह बार कायोत्सर्ग करे। १. नंदी २. अनुयोगद्वार ३. देवेन्द्रस्तव ४. तण्डुलवैकालिक (तंडुलवैचारिक) ५. चंदाविध्वज (चंद्रवेध्यक) ६. आतुर- प्रत्याख्यान ७. गणिविद्या ८. कल्पाकल्प ९. क्षुल्लकल्पश्रुत १०. राजकल्पसूत्र ११. प्रमादाप्रमाद १२. पौरुषी-मंडल १३. विद्याचारव्यवच्छेद १४. आत्मविशुद्धि १५. मरण विशुद्धि १६. ध्यानविभक्ति १७. मरणविभक्ति १८. संलेखनाश्रुत १९. वीतरागश्रुत २०. महाप्रत्याख्यान - प्रकीर्णकरूप इन सब उत्कालिकसूत्रों के योग अन्य योग के मध्य नीवि के स्थान पर आयम्बिल करके करे तथा एक ही दिन में उसके उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करे। इन सभी प्रकीर्णक सूत्रों के योग में उस

दिन सभी प्रकीर्णकों के नामग्रहण पूर्वक उनके उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ तीन-तीन बार करे।

कुछ लोग औपपातिक, राजप्रशनीय, जीवाजीवाभिगम एवं प्रज्ञापना उपांगसूत्र के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा हेतु तीन आयम्बिल एवं तीन कालग्रहण करने के लिए भी कहते हैं - ऐसा अन्य आचार्यों का मत है, शेष कालिक-सिद्धान्त व्यवच्छिन्न हैं। कदाचित् उनमें से कुछ (आंशिक रूप में) वर्तमान में उपलब्ध हों, तो उसके उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया वाचना के दिन कालग्रहण करके करे। यह प्रकीर्णकों के योग की विधि है।

अब महानिशीथसूत्र के योग की विधि का विवेचन है। इस सूत्र में एक श्रुतस्कन्ध है। इसके योगोद्धहन की विधि निम्नांकित है :-

प्रथम दिन :- प्रथम दिन योगवाही आयम्बिल-तप, नंदीक्रिया एवं एक काल का ग्रहण करे तथा महानिशीथ श्रुतस्कन्ध के उद्देश की क्रिया करे। इसके साथ ही इसके प्रथम अध्ययन के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया भी करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही चार बार मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना करे, चार बार द्वादशावर्त्तवन्दन करे, चार बार खमासमणासूत्रपूर्वक वन्दन करे एवं चार बार कायोत्सर्ग करे।

द्वितीय दिन :- द्वितीय दिन योगवाही आयम्बिल-तप एवं एक काल का ग्रहण करे तथा द्वितीय अध्ययन के उद्देश की क्रिया करे। इसके साथ ही द्वितीय अध्ययन के प्रथम एवं द्वितीय उद्देशक के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ सात-सात बार करे।

तृतीय दिन :- तीसरे दिन योगवाही आयम्बिल-तप एवं एक काल का ग्रहण करे तथा तीसरे और चौथे उद्देशक के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ छः-छः बार करे।

चौथे दिन :- चौथे दिन योगवाही आयम्बिल-तप एवं एक काल का ग्रहण करे तथा पाँचवें और छठें उद्देशक के उद्देश, समुद्देश

एवं अनुज्ञा की क्रिया करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ छः-छः बार करे।

पाँचवें दिन :- पाँचवें दिन योगवाही आयम्बिल-तप एवं एक काल का ग्रहण करे तथा सातवें और आठवें उद्देशक के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ छः-छः बार करे।

छठवें दिन :- छठें दिन योगवाही आयम्बिल-तप एवं एक काल का ग्रहण करे तथा नवें उद्देशक के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करे। इसके साथ ही द्वितीय अध्ययन के समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया भी करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ पाँच-पाँच बार करे।

सातवें दिन :- सातवें दिन योगवाही आयम्बिल-तप एवं एक काल का ग्रहण करे तथा तीसरे अध्ययन के उद्देश की क्रिया करे। इसके साथ ही प्रथम एवं द्वितीय उद्देशक के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ सात-सात बार करे।

आठवें दिन :- आठवें दिन योगवाही आयम्बिल-तप एवं एक काल का ग्रहण करे तथा तीसरे एवं चौथे उद्देशक के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ छः-छः बार करे।

नवें दिन :- नवें दिन योगवाही आयम्बिल-तप एवं एक काल का ग्रहण करे तथा पाँचवें और छठें उद्देशक के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ छः-छः बार करे।

दसवें दिन :- दसवें दिन योगवाही आयम्बिल-तप एवं एक काल का ग्रहण करे तथा सातवें और आठवें उद्देशक के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ छः-छः बार करे।

ग्यारहवें दिन :- ग्यारहवें दिन योगवाही आयम्बिल-तप एवं एक काल का ग्रहण करे तथा नवें और दसवें उद्देशक के उद्देश,

समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ छः-छः बार करे।

बारहवें दिन :- बारहवें दिन योगवाही आयम्बिल-तप एवं एक काल का ग्रहण करे तथा ग्यारहवें और बारहवें उद्देशक के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ छः-छः बार करे।

तेरहवें दिन :- तेरहवें दिन योगवाही आयम्बिल-तप एवं एक काल का ग्रहण करे तथा तेरहवें एवं चौदहवें उद्देशक के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ छः-छः बार करे।

चौदहवें दिन :- चौदहवें दिन योगवाही आयम्बिल-तप एवं एक काल का ग्रहण करे तथा पन्द्रहवें एवं सोलहवें उद्देशक के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करे। इसके साथ ही तृतीय अध्ययन के समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया भी करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ आठ-आठ बार करे।

पन्द्रहवें दिन :- पन्द्रहवें दिन योगवाही आयम्बिल-तप एवं एक काल का ग्रहण करे तथा चौथे अध्ययन के उद्देश तथा उसके प्रथम एवं द्वितीय अध्ययन के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ सात-सात बार करे।

इसी प्रकार सोलहवें दिन से लेकर इक्कीसवें दिन तक आयम्बिल-तप एवं एक काल ग्रहण के द्वारा तृतीय उद्देशक से लेकर चौदहवें उद्देशक तक के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करे। इसमें प्रत्येक दिन क्रमशः दो-दो उद्देशकों के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ छः-छः बार करे।

बाईसवें दिन :- बाईसवें दिन योगवाही आयम्बिल-तप एवं एक काल ग्रहण करे तथा पन्द्रहवें एवं सोलहवें उद्देशक के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की एवं चौथे अध्ययन के समुद्देश एवं अनुज्ञा की

क्रिया करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ आठ-आठ बार करे।

तेईसवें दिन :- तेईसवें दिन योगवाही आयम्बिल-तप एवं एक काल का ग्रहण करे तथा पाँचवें अध्ययन के उद्देश की क्रिया करे। इसके साथ ही इसके प्रथम एवं द्वितीय उद्देशक के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ सात-सात बार करे।

चौबीसवें दिन :- चौबीसवें दिन योगवाही आयम्बिल-तप एवं एक काल का ग्रहण करे तथा पाँचवें अध्ययन के तृतीय एवं चतुर्थ उद्देशक के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ छः-छः बार करे।

पच्चीसवें दिन :- पच्चीसवें दिन योगवाही आयम्बिल-तप एवं एक काल का ग्रहण करे तथा पाँचवें और छठे उद्देशक के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ छः-छः बार करे।

छब्बीसवें दिन :- छब्बीसवें दिन योगवाही आयम्बिल-तप एवं एक काल का ग्रहण करे तथा सातवें और आठवें उद्देशक के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ छः-छः बार करे।

सत्ताईसवें दिन :- सत्ताईसवें दिन योगवाही आयम्बिल-तप एवं एक काल का ग्रहण करे तथा नवें और दसवें उद्देशक के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ छः-छः बार करे।

अट्ठाईसवें दिन :- अट्ठाईसवें दिन योगवाही आयम्बिल-तप एवं एक काल का ग्रहण करे तथा ग्यारहवें और बारहवें उद्देशक के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करे। इसके साथ ही पाँचवें अध्ययन के समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ आठ-आठ बार करे।

उनतीसवें दिन :- उनतीसवें दिन योगवाही आयम्बिल-तप एवं एक काल का ग्रहण करे तथा छठे अध्ययन के उद्देश तथा उसके

प्रथम एवं द्वितीय उद्देशक के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ सात-सात बार करे।

तीसवें दिन :- तीसवें दिन योगवाही आयम्बिल-तप एवं एक काल का ग्रहण करे तथा तीसरे और चौथे उद्देशक के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की तथा छठे अध्ययन के समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ आठ-आठ बार करे।

एकतीसवें दिन :- एकतीसवें दिन योगवाही आयम्बिल-तप एवं एक काल का ग्रहण करे तथा सातवें अध्ययन के उद्देश की क्रिया करे। इसके साथ ही उसके प्रथम एवं द्वितीय उद्देशक के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ सात-सात बार करे।

बत्तीसवें दिन :- बत्तीसवें दिन योगवाही आयम्बिल-तप एवं एक काल का ग्रहण करे तथा तीसरे और चौथे उद्देशक के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ छः-छः बार करे।

तैंतीसवें दिन :- तैंतीसवें दिन योगवाही आयम्बिल-तप एवं एक काल का ग्रहण करे तथा पाँचवें और छठे उद्देशक के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की तथा सातवें अध्ययन के समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ छः-छः बार करे।

चौत्तिसवें दिन :- चौत्तिसवें दिन योगवाही आयम्बिल-तप एवं एक काल का ग्रहण करे तथा आठवें अध्ययन के उद्देश की क्रिया करे। इसके साथ ही इसके प्रथम एवं द्वितीय उद्देशक के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ सात-सात बार करे।

पैंतीसवें दिन :- पैंतीसवें दिन योगवाही आयम्बिल-तप एवं एक काल का ग्रहण करे तथा तीसरे और चौथे उद्देशक के उद्देश,

समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ छः-छः बार करे।

इसी प्रकार छत्तीसवें दिन से लेकर बयालीसवें दिन तक आयम्बिल एवं कालग्रहण के द्वारा पाँचवें उद्देशक से लेकर अठारहवें उद्देशक तक के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करे। प्रतिदिन क्रमशः दो-दो उद्देशकों के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ छः-छः बार करे।

तैंतालीसवें दिन :- तैंतालीसवें दिन योगवाही आयम्बिल-तप एवं एक काल का ग्रहण करे तथा उन्नीसवें एवं बीसवें उद्देशक के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करे। इसके साथ ही आठवें अध्ययन के समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ आठ-आठ बार करे।

चवालीसवें दिन :- चवालीसवें दिन योगवाही आयम्बिल-तप एवं एक काल का ग्रहण करे तथा श्रुतस्कन्ध के समुद्देश की क्रिया करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ एक-एक बार करे।

पैंतालीसवें दिन :- पैंतालीसवें दिन योगवाही आयम्बिल-तप, नंदीक्रिया एवं एक काल का ग्रहण करे तथा श्रुतस्कन्ध के अनुज्ञा की क्रिया करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ एक-एक बार करे।

इस प्रकार महानिशीथ श्रुतस्कन्ध के योग में कुल पैंतालीस दिन एवं एक नंदी होती है। यह कालिक आगाढ़ योग है। यहाँ पैंतालीस आयम्बिल आयुक्त पानक के द्वारा करते हैं। इसके यंत्र का न्यास इस प्रकार है -

महानिशीथ श्रुतस्कंध के आठ अध्ययनों के योग : काल=४५, दिन=४५, आयम्बिल=४५, नंदी=२									
काल	१	२	३	४	५	६	७	८	९
अध्य- यन	श्रु.उ. नं.१	२	२	२	२	२	३	३	३
उ.	०	१/२	३/४	५/६	७/८	९	१/२	३/४	५/६
काउ.	४	७	६	६	६	५	७	६	६

काल	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
अध्ययन	३	३	३	३	३	४	४
उ.	७/८	९/१०	११/१२	१३/१४	१५/१६	१/२	३/४
काउ.	६	६	६	६	८	७	६

काल	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३
अध्ययन	४	४	४	४	४	४	५
उ.	५/६	७/८	९/१०	११/१२	१३/१४	१५/१६	१/२
काउ.	६	६	६	६	६	८	७

काल	२४	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१
अध्ययन	५	५	५	५	५	६	६	७
उ.	३/४	५/६	७/८	९/१०	११/१२	१/२	३/४	१/२
काउ.	६	६	६	६	८	७	८	७

काल	३२	३३	३४	३५	३६	३७	३८	३९
अध्ययन	७	७	८	८	८	८	८	८
उ.	३/४	५/६	१/२	३/४	५/६	७/८	९/१०	११/१२
काउ.	६	८	७	६	६	६	६	६

काल	४०	४१	४२	४३	४४	४५
अध्ययन	८	८	८	८	श्रु.स.	श्रु.अ.नं.
उ.	१३/१४	१५/१६	१७/१८	१९/२०	०	०
काउ.	६	६	६	८	१	१

सभी सूत्रों के योगोद्धहन की विधियों के विवेचन के पश्चात् बहुत अधिक लम्बी अवधि वाले, बहुत क्रिया वाले एवं बहुत सिद्धान्त-वाक्यों वाले "विवाहप्रज्ञप्ति" नामक भगवतीअंग के गणियोगोद्धहन की विधि क्रम से वर्णित की जा रही है। इसके योग में छः मास छः दिन, अर्थात् १८६ दिन होते हैं। इस पाँचवें अंग में श्रुतस्कन्ध नहीं है। इस सूत्र में एकतालीस शतक हैं। इस सूत्र के

योगोद्धहन की चर्या पूर्व में कहे गए शेष सूत्रों के योगोद्धहन की चर्या के समान ही है। इसके योगोद्धहन की विधि निम्नानुसार है :-

प्रथम दिन :- प्रथम दिन योगवाही आयम्बिल-तप, नंदीक्रिया एवं एक काल का ग्रहण करे तथा प्रथम शतक के उद्देश की क्रिया करे। इसके साथ ही प्रथम शतक के प्रथम एवं द्वितीय उद्देशक के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही आठ बार मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना करे, आठ बार द्वादशावर्तवन्दन करे, आठ बार खमासमणासूत्रपूर्वक वन्दन करे एवं आठ बार कायोत्सर्ग करे।

इसी प्रकार द्वितीय, तृतीय एवं चतुर्थ दिन कालग्रहण एवं क्रमशः आयम्बिल तथा नीवि द्वारा प्रथम शतक के तृतीय उद्देशक से दो-दो उद्देशक के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ छः-छः बार करे।

पाँचवें दिन :- पाँचवें दिन योगवाही आयम्बिल एवं एक काल का ग्रहण करे तथा नवें और दसवें उद्देशक के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करे। इसके साथ ही प्रथम शतक के समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ आठ-आठ बार करे।

छटें दिन :- छटें दिन योगवाही आयम्बिल एवं एक काल का ग्रहण करे तथा द्वितीय शतक के उद्देश की क्रिया करे। इसके साथ ही द्वितीय शतक के स्कन्ध नामक प्रथम उद्देशक के उद्देश एवं समुद्देश की क्रिया करे। यदि उस दिन योगवाही स्कन्ध उद्देशक को मुखाग्र न करे, तो उसे उस दिन उसकी अनुज्ञा न दे। दूसरे दिन मुखाग्र करने पर आयम्बिल-तप के द्वारा उसकी अनुज्ञा दे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ तीन-तीन बार करे।

सातवें दिन :- सातवें दिन योगवाही आयम्बिल-तप एवं एक काल का ग्रहण करे तथा स्कन्ध उद्देशक के अनुज्ञा की क्रिया करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ एक-एक बार करे।

आठवें दिन :- आठवें दिन योगवाही नीवि-तप एवं एक काल का ग्रहण करे तथा प्रथम एवं द्वितीय उद्देशक के उद्देश, समुद्देश

एवं अनुज्ञा की क्रिया करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ छः-छः बार करे।

पूर्ववत् नवें, दसवें और ग्यारहवें दिन क्रमशः चौथे-पाँचवें, छठे-सातवें एवं आठवें -नवें उद्देशक के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करे। इसकी क्रियाविधि में पूर्ववत् सभी क्रियाएँ छः-छः बार करे।

बारहवें दिन :- बारहवें दिन योगवाही आयम्बिल-तप एवं एक काल का ग्रहण करे तथा नवें और दसवें उद्देशक के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करे। इसके साथ ही दूसरे शतक के समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ आठ-आठ बार करे।

द्वितीय शतक के योग में सात दिन तथा आहार-पानी की पाँच दत्तियाँ होती हैं - तीन भोजन की तथा दो पानी की, अथवा दो भोजन की और तीन पानी की, या दो-दो आहार-पानी की तथा एक लवण की - इस प्रकार तीन विकल्पों से पाँच दत्तियाँ होती हैं।

दत्ति से तात्पर्य यह है कि जब यति गृहस्थ के घर में जाता है, उस समय उसे जो आहार सर्वप्रथम दिया जाता है, वह उस आहार को ही लेकर निकल जाता है, वह न तो अन्य वस्तु को ग्रहण करता है और न ही दूसरी जगह से वस्तु लेता है - यह यतियों की दत्ति है। गृहस्थ की दत्ति से तात्पर्य यह है कि दत्ति के प्रत्याख्यान को नहीं जानने वाले के द्वारा गृहस्थ की थाली में जो प्रथम बार रख दिया जाता है, नर या नारी उसी से ही अपनी तृप्ति कर लेते हैं, दूसरी बार ग्रहण नहीं करते हैं - यह गृहस्थों की दत्ति है।

तेरहवें दिन :- तेरहवें दिन योगवाही आयम्बिल-तप एवं एक काल का ग्रहण करे तथा तीसरे शतक के उद्देश की क्रिया करे। इसके साथ ही प्रथम उद्देशक के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ चार-चार बार करे।

चौदहवें दिन :- चौदहवें दिन योगवाही आयम्बिल-तप एवं एक काल का ग्रहण करे तथा तीसरे शतक के द्वितीय चमर नामक उद्देशक के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ तीन-तीन बार करे। यदि योगवाहक

उसी दिन चरम उद्देशक मुख्याग्र कर ले, तो उसे उसी दिन उसकी अनुज्ञा दे दे, अन्यथा दूसरे दिन मुख्याग्र कर लेने पर आयम्बिल के द्वारा उसकी अनुज्ञा दे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ एक-एक बार करे।

इस प्रकार पन्द्रह दिन एवं पन्द्रह काल के व्यतीत होने पर षष्ठं योग लगता है। षष्ठं योग में क्रमशः पाँच दिन नीवि करे, तत्पश्चात् छठें दिन आयम्बिल करे। इसके बाद छः दिन नीवि करे तथा सातवें दिन आयम्बिल करे। पुनः इसी प्रकार पाँच दिन नीवि करे तथा छठें दिन आयम्बिल करे। गौशालशतक के उद्देश के पूर्व तक, अर्थात् पन्द्रहवें दिन से लेकर चौतीसवें दिन तक षष्ठम्योग किया जाता है।

सोलहवें दिन :- सोलहवें दिन योगवाही एक काल का ग्रहण करे तथा तीसरे और चौथे उद्देशक के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ छः-छः बार करे।

सत्रहवें दिन :- सत्रहवें दिन योगवाही एक काल का ग्रहण करे तथा पाँचवें और छठें उद्देशक के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ छः-छः बार करे।

अठारहवें दिन :- अठारहवें दिन योगवाही एक काल का ग्रहण करे तथा सातवें और आठवें उद्देशक के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ छः-छः बार करे।

उन्नीसवें दिन :- उन्नीसवें दिन योगवाही एक काल का ग्रहण करे तथा नवें और दसवें उद्देशक के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करे। इसके साथ ही तीसरे शतक के समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया भी करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ आठ-आठ बार करे। यहाँ तृतीय शतक के योग में भी पाँच दत्तियाँ होती हैं।

बीसवें दिन :- बीसवें दिन योगवाही एक काल का ग्रहण करे तथा चौथे शतक के उद्देश की क्रिया करे। इसके साथ ही चौथे शतक के आदि के चार एवं अन्त के चार - ऐसे आठ उद्देशकों के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ सात-सात बार करे।

इक्कीसवें दिन :- इक्कीसवें दिन योगवाही एक काल का ग्रहण करे तथा नवें और दसवें उद्देशक के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करे। इसके साथ ही चौथे शतक के समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया भी करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ आठ-आठ बार करे।

बाईसवें दिन :- बाईसवें दिन योगवाही एक काल का ग्रहण करे तथा पाँचवें शतक के उद्देश की क्रिया करे इसके साथ ही पाँचवें शतक के प्रथम एवं द्वितीय उद्देशक के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ सात-सात बार करे।

तेईसवें दिन :- तेईसवें दिन योगवाही एक काल का ग्रहण करे तथा तीसरे और चौथे उद्देशक के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ छः-छः बार करे।

चौबीसवें दिन :- चौबीसवें दिन योगवाही एक काल का ग्रहण करे तथा पाँचवें और छठवें उद्देशक के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ छः-छः बार करे।

पच्चीसवें दिन :- पच्चीसवें दिन योगवाही एक काल का ग्रहण करे तथा सातवें और आठवें उद्देशक के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ छः-छः बार करे।

छब्बीसवें दिन :- छब्बीसवें दिन योगवाही एक काल का ग्रहण करे तथा नवें और दसवें उद्देशक के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करे। इसके साथ ही पाँचवें शतक के समुद्देश एवं अनुज्ञा

की क्रिया करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ आठ-आठ बार करे।

छटें, सातवें और आठवें शतक के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की विधि पाँचवें शतक की भाँति ही करे। बाईसवें दिन से लेकर एकतालीसवें दिन तक पाँच से लेकर आठ शतकों के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया पाँच-पाँच दिनों से करे। (अर्थात् पाँच-पाँच दिन से एक-एक शतक के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करे।)

बयालीसवें दिन :- बयालीसवें दिन योगवाही एक काल का ग्रहण करे तथा नवें शतक के उद्देश की क्रिया करे। इसके साथ ही नवें शतक के आदि के सत्रह एवं अन्त के सत्रह - ऐसे चौतीस उद्देशकों के उद्देश की क्रिया करे। तत्पश्चात् नवें शतक तथा उसके आदि के सत्रह एवं अन्त के सत्रह - ऐसे चौतीस उद्देशकों के समुद्देश की क्रिया करे। तत्पश्चात् पुनः नवें शतक तथा उसके आदि के सत्रह एवं अन्त के सत्रह - ऐसे चौतीस उद्देशकों के अनुज्ञा की क्रिया करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ नौ-नौ बार करे।

नवें, दसवें, ग्यारहवें, बारहवें, तेरहवें एवं चौदहवें शतक के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की विधि एक जैसी ही है। इन शतकों में क्रमशः चौतीस, चौतीस, बारह, दस, दस एवं दस उद्देशक हैं। इन सभी शतकों के दो भाग करके एक-एक दिन एक-एक कालग्रहण के द्वारा एक-एक शतक के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करे।

बयालीसवें दिन से लेकर सैंतालीसवें दिन तक इसी विधि से योगोद्धहन की क्रिया करे। प्रत्येक दिन इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ नौ-नौ बार करे।

अड़तालीसवें दिन :- अड़तालीसवें दिन योगवाही आयम्बिल-तप एवं एक काल का ग्रहण करे तथा गोशाल नामक पन्द्रहवें शतक के उद्देश, समुद्देश की क्रिया करे। यदि योगवाही उसी दिन गोशालशतक को पढ़ लेता है तो, उसे उसी दिन उसकी अनुज्ञा दे देते हैं, अन्यथा दूसरे दिन भी आयम्बिल करके एवं कालग्रहण के द्वारा उसकी अनुज्ञा प्राप्त करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ पहले दिन दो-दो बार करे तथा दूसरे दिन एक-एक बार करे।

दोनों दिन तीन-तीन दत्तियाँ ग्रहण करे, अर्थात् दो भोजन की और एक पानी, या दो पानी की तथा एक भोजन की।

गोशालशतक की अनुज्ञा तक उनचास दिन होते हैं तथा उनचास ही काल ग्रहण होते हैं। स्कन्धक उद्देशक, चमर उद्देशक एवं गोशालशतक की अनुज्ञा हो जाने पर खमासमणासूत्रपूर्वकवन्दन, कालग्रहण आदि की क्रिया करना नहीं कल्पता है। इस कालावधि में सत्तर कालों का ग्रहण होता है। मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना, द्वादशावर्तवन्दन, खमासमणासूत्रपूर्वक वन्दन, कायोत्सर्ग आदि क्रियाएँ दिन में दो-दो बार करते हैं। इस प्रकार यह योग समाप्त होता है।

उनचास दिनों के पश्चात् गोशालशतक की अनुज्ञा हो जाने पर अष्टम योग प्रारम्भ होता है। उसमें सात दिन नीवि एवं आठवें दिन आयम्बिल - इसी क्रम से छः मास तक नित्य करते हैं। वर्तमान स्थविरों का यह मत है कि अष्टमी, चतुर्दशी के दिन आयम्बिल करे और शेष दिनों में छः मास के अन्त तक नीवि करे। गोशालशतक में तीन दत्तियों का भंग होने पर सर्वभग्न माना जाता है। चरमेन्द्र के उद्देशक के षष्ठं योग के पश्चात् अष्टम योग में विकृति से युक्त व्यंजन आदि गुरु द्वारा निर्दिष्ट कवल परिमाण अन्य योगवाही की नीवि के समान ही कल्प्य हैं। अतः “विगई विसज्जावणत्थं ओहडावणत्थं” कायोत्सर्ग करते हैं। अन्नत्थसूत्र बोलकर कायोत्सर्ग करे। कायोत्सर्ग में नमस्कार मंत्र का चिन्तन करे और कायोत्सर्ग पूर्ण करके नमस्कार मंत्र बोले। वहाँ पहले दिन पूर्वोक्त गणियोग की विधि से व्यंजन आदि ग्रहण करे। गोशालशतक की अनुज्ञा के पश्चात् पचासवें दिन से लेकर एक-एक दिन एक-एक शतक के एक-एक कालग्रहण द्वारा, छब्बीस शतकों की पचासवें दिन से लेकर पचहत्तरवें दिन तक उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करे। शतक मध्यगत उद्देशक के आधे शतकों की आदि संज्ञा के द्वारा एवं आधे शतकों की अन्तिम संज्ञा द्वारा उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की विधि करे। अगर शतकों में उद्देशकों की संख्या विषम हो, तो आदि में एक उद्देशक ज्यादा ले, अर्थात् उनके समान दो भाग करे, आदि में एक उद्देशक अधिक रखे।

पचासवें दिन :- पचासवें दिन योगवाही एक काल का ग्रहण करे तथा सोलहवें शतक के आदि के सात एवं अन्त के सात - ऐसे चौदह उद्देशकों के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया भी उसी दिन शतक के साथ करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ नौ-नौ बार करे।

इक्यावनवें दिन :- इक्यावनवें दिन योगवाही एक काल का ग्रहण करे तथा सत्रहवें शतक के आदि के नौ एवं अन्त के आठ - ऐसे सत्रह उद्देशकों के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ नौ-नौ बार करे।

बावनवें दिन :- बावनवें दिन योगवाही एक काल का ग्रहण करे तथा अठारहवें शतक के आदि के पाँच एवं अन्त के पाँच - ऐसे दस उद्देशकों के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ नौ-नौ बार करे।

तिरपनवें दिन :- तिरपनवें दिन योगवाही एक काल का ग्रहण करे तथा उन्नीसवें शतक के आदि के पाँच एवं अन्त के पाँच - ऐसे दस उद्देशकों के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ नौ-नौ बार करे।

चौवनवें दिन :- चौवनवें दिन योगवाही एक काल का ग्रहण करे तथा बीसवें शतक के आदि के पाँच एवं अन्त के पाँच - ऐसे दस उद्देशकों के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ नौ-नौ बार करे।

पचपनवें दिन :- पचपनवें दिन योगवाही एक काल का ग्रहण करे तथा इक्कीसवें शतक के आदि के चालीस एवं अन्त के चालीस - ऐसे अस्सी उद्देशकों के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ नौ-नौ बार करे।

छप्पनवें दिन :- छप्पनवें दिन योगवाही एक काल का ग्रहण करे तथा बाईसवें शतक के आदि के तीस एवं अन्त के तीस - ऐसे साठ उद्देशकों के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ नौ-नौ बार करे।

सत्तावनवें दिन :- सत्तावनवें दिन योगवाही एक काल का ग्रहण करे तथा तेईसवें शतक के आदि के पच्चीस एवं अन्त के पच्चीस - ऐसे पचास उद्देशकों के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ नौ-नौ बार करे।

अट्ठावनवें दिन :- अट्ठावनवें दिन योगवाही एक काल का ग्रहण करे तथा चौबीसवें शतक के आदि के बारह एवं अन्त के बारह - ऐसे चौबीस उद्देशकों के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ नौ-नौ बार करे।

उनसठवें दिन :- उनसठवें दिन योगवाही एक काल का ग्रहण करे तथा पच्चीसवें शतक के आदि के छः एवं अन्त के छः - ऐसे बारह उद्देशकों के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ नौ-नौ बार करे।

साठ से लेकर चौसठवें दिन तक पाँच काल का ग्रहण करे। छब्बीसवें बन्धिशतक, सत्ताईसवें करांशुकशतक, अट्ठाईसवें कर्मसमार्जनशतक, उनतीसवें कर्मप्रस्थापनशतक तथा तीसवें समवसरणशतक - इन पाँचों शतकों में जो ग्यारह-ग्यारह उद्देशक हैं, उन उद्देशकों के दो भाग करके उनके उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा का क्रिया करे, अर्थात् आदि में छः-छः उद्देशकों की तथा अन्त में पाँच-पाँच उद्देशकों के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ नौ-नौ बार करे।

पैंसठवें दिन :- पैंसठवें दिन योगवाही एक काल का ग्रहण करे तथा एकतीसवें उपातशतक के आदि के चौदह एवं अन्त के चौदह - ऐसे अट्ठाईस उद्देशकों के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ नौ-नौ बार करे।

छासठवें दिन :- छासठवें दिन योगवाही एक काल का ग्रहण करे तथा बत्तीसवें उद्वर्तनशतक के आदि के चौदह एवं अन्त के चौदह - ऐसे अट्ठाईस उद्देशकों के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की

क्रिया करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ नौ-नौ बार करे।

सड़सठवें दिन :- सड़सठवें दिन योगवाही एक काल का ग्रहण करे तथा तैतीसवें एकेन्द्रिय महाज्योत्स्नाशतक जिसमें बारह श्रेणि (उप) शतक तथा एक सौ चौबीस उद्देशक है, उस शतक के आदि के बासठ एवं अन्त के बासठ - ऐसे एक सौ चौबीस उद्देशकों के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ नौ-नौ बार करे।

अड़सठवें दिन :- अड़सठवें दिन योगवाही एक काल का ग्रहण करे तथा चौतीसवें शतक जिसमें बारह उपशतक हैं, उसके आदि के बासठ एवं अन्त के बासठ - ऐसे एक सौ चौबीस उद्देशकों के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ नौ-नौ बार करे।

उनहत्तरवें दिन :- उनहत्तरवें दिन योगवाही एक काल का ग्रहण करे तथा पैतीसवें एकेन्द्रियमहाज्योत्स्नाशतक जिसमें बारह उपशतक हैं, उसके आदि के छसठ एवं अन्त के छसठ - ऐसे एक सौ बत्तीस उद्देशकों के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ नौ-नौ बार करे।

सत्तरवें दिन :- सत्तरवें दिन योगवाही एक काल का ग्रहण करे तथा छत्तीसवें द्वीन्द्रियमहाज्योत्स्नाशतक, जिसमें बारह उपशतक हैं, उसके आदि के छसठ एवं अन्त के छसठ - ऐसे एक सौ बत्तीस उद्देशकों के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ नौ-नौ बार करे।

इकहत्तरवें दिन :- इकहत्तरवें दिन योगवाही एक काल का ग्रहण करे तथा सैतीसवें त्रीन्द्रिय महाज्योत्स्ना शतक जिसमें बारह उपशतक हैं, उसके आदि के छसठ एवं अन्त के छसठ - ऐसे एक सौ बत्तीस उद्देशकों के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ नौ-नौ बार करे।

बहत्तरवें दिन :- बहत्तरवें दिन योगवाही एक काल का ग्रहण करे तथा अड़तीसवें चतुरीन्द्रिय महाज्योत्स्ना शतक जिसमें बारह

उपशतक हैं, उसके आदि के छासठ एवं अन्त के छासठ - ऐसे एक सौ बत्तीस उद्देशकों के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ नौ-नौ बार करे।

तिहत्तरवें दिन :- तिहत्तरवें दिन योगवाही एक काल का ग्रहण करे तथा उनचालीसवें असंज्ञिपंचेन्द्रिशतक जिसमें बारह उपशतक हैं, उसके आदि के छासठ एवं अन्त के छासठ - ऐसे एक सौ बत्तीस उद्देशकों के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ नौ-नौ बार करे।

चौहत्तरवें दिन :- चौहत्तरवें दिन योगवाही एक काल का ग्रहण करे तथा चालीसवें संज्ञिपंचेन्द्रिय महाज्योत्स्ना शतक, जिसमें बारह उपशतक हैं, उसके आदि के एक सौ सोलह एवं अन्त के एक सौ पन्द्रह - ऐसे दो सौ एकत्तीस उद्देशकों के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ नौ-नौ बार करे।

पचहत्तरवें दिन :- पचहत्तरवें दिन योगवाही एक काल का ग्रहण करे तथा इकतालीसवें राशिज्योत्स्नाशतक के आदि के अष्टानवें एवं अन्त के अष्टानवें - ऐसे एक सौ छानवें उद्देशकों के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ नौ-नौ बार करे।

छिहत्तरवें दिन :- छिहत्तरवें दिन योगवाही आयम्बिल-तप एवं एक काल का ग्रहण करे तथा भगवतीसूत्र के समुद्देश की क्रिया करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ एक-एक बार करे।

सतहत्तरवें दिन :- सतहत्तरवें दिन योगवाही आयम्बिल-तप, नंदीक्रिया एवं एक काल का ग्रहण करे तथा भगवतीसूत्र के अनुज्ञा की क्रिया करे। इसकी क्रियाविधि में योगवाही पूर्ववत् सभी क्रियाएँ एक-एक बार करे।

ये संग्रहणी की गाथाएँ हैं, जिनका भावार्थ निम्नानुसार है -

भगवतीसूत्र के प्रथम से लेकर आठवें शतक तक प्रत्येक शतक में दस-दस उद्देशक हैं। नवें और दसवें शतक में चौत्तीस-चौत्तीस उद्देशक हैं। ग्यारहवें शतक में बारह उद्देशक हैं। फिर

तेरहवें, चौदहवें और पन्द्रहवें - इन तीन शतकों में दस-दस उद्देशक हैं। पन्द्रहवें शतक में एक भी उद्देशक नहीं है, मात्र पूरा एक ही शतक है, इसका तात्पर्य यह है कि आठ शतकों में क्रमशः दस-दस उद्देशक हैं। दूसरे शतक के प्रथम उद्देशक में स्कंदक और तीसरे शतक के दूसरे उद्देशक में चमर का उल्लेख है। इसी प्रकार पन्द्रहवें शतक में गोशालक का उल्लेख है। इसमें पैंतीस दत्ति होती हैं, यह सब भक्त पान सहित होती हैं। “पारण दुगेण होई अनुनवण” पारणे में दत्ति की वृद्धि होती है, कभी नहीं होती है (?)। स्कंध आदि उद्देशकों की विधि एवं अनुभाग का अब क्रमपूर्वक वर्णन है। तृतीय शतक के द्वितीय चरमेन्द्र नामक योग में षष्ठ योग होता है। इसके योग में उत्सर्ग-मार्ग में विगई का त्याग करना चाहिए। गोशालकशतक की अनुज्ञा के लिए अष्टमयोग होता है। सोलहवें शतक में चौदह उद्देशक हैं, सत्रहवें शतक में सत्रह उद्देशक हैं। अठारहवें, उन्नीसवें और बीसवें - इन तीनों शतकों में दस-दस उद्देशक हैं। इक्कीसवें शतक में अस्सी उद्देशक हैं। बाईसवें शतक में साठ उद्देशक हैं। तेईसवें शतक में पचास उद्देशक हैं। चौबीसवें शतक में चौबीस उद्देशक हैं। पच्चीसवें शतक में बारह उद्देशक हैं। छब्बीसवें शतक से लेकर तीस तक के पाँच शतकों में ग्यारह-ग्यारह उद्देशक हैं। एकतीसवें और बत्तीसवें शतक में अट्ठाईस-अट्ठाईस उद्देशक हैं। तैंतीसवें और चौतीसवें शतक में एक सौ चौबीस उद्देशक हैं। इसके पश्चात् पैंतीसवें शतक से लेकर उनचालीस तक के शतकों में एक सौ बत्तीस-एक सौ बत्तीस उद्देशक हैं। चालीसवें शतक में दो सौ एकतीस उद्देशक हैं। अन्तिम एकतालीसवें शतक में एक सौ छियानवें उद्देशक हैं। चमर उद्देशक की अनुज्ञा हेतु पन्द्रह दिन तक पन्द्रह काल का ग्रहण करे। इसके बाद षष्ठम योग होता है। इसमें पाँच नीवि और छठे दिन आयम्बिल होता है। इस प्रकार भगवतीसूत्र के योग में चौदहवें शतक तक उनपचास दिन होते हैं, और उतने ही काल का ग्रहण होता है। तत्पश्चात् अष्टम योग होता है, जिसमें आठ दिन तक निरुद्ध (प्रत्याख्यान) करना होता है। वर्तमान समाचारी के अनुसार गोशालकशतक के योग में अष्टमी, चतुर्दशी के दिन आयम्बिल करते हैं। महानिशीथसूत्र के प्रथम अध्ययन में मात्र अध्ययन होता है, दूसरे

अध्ययन में नौ उद्देशक, तीसरे एवं चौथे अध्ययन में सोलह, पाँचवें अध्ययन में बारह, छठें अध्ययन में चार, सातवें अध्ययन में छः तथा आठवें अध्ययन में बीस उद्देशक हैं। महानिशीथ सूत्र के आठ अध्ययनों में कुल तियासी (८३) उद्देशक हैं।

इस प्रकार पंचम अंग विवाहप्रज्ञप्ति के योग में सतहत्तर (७७) दिन और सतहत्तर कालग्रहण करके पूर्ण करते हैं। शेष एक सौ नौ दिन सूत्र की वाचना आदि काल ग्रहण, वन्दन, खमासमणा, कायोत्सर्ग आदि क्रिया के बिना ही होती है, अर्थात् उक्तमान संघट्ट, नीवि के प्रत्याख्यान होते हैं, किन्तु मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना, द्वादशावर्त आदि क्रियाओं के बिना ही वाचन करते हैं। गोशालशतक में अष्टमी एवं चतुर्दशी के दिन आयम्बिल करे तथा शेष दिनों में नीवि करे। इस प्रकार छः मास तथा छः दिन तक (१८६ दिन तक) क्रियाविधि करे। उनचास दिन के बाद एक सौ छियासी दिनों तक आयुक्तपानक का ग्रहण करे। भगवती के योग में सभी जगह एक सौ छियासी दिन का ही उल्लेख मिलता है। कालिकसूत्र के योगों में संघट्ट निश्चित रूप से होता है। यह भगवतीसूत्र के गणियोग की विधि है। इसमें छः मास छः दिन, अर्थात् एक सौ छियासी दिन, सतहत्तर कालग्रहण एवं दो बार नंदीक्रिया होती है। यह कालिक-आगाढ़ योग है। यहाँ सभी योगों में अध्ययन, वर्ग या शतक के उद्देश, समुद्देश के बाद उनके अध्ययनों या उद्देशकों के उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा की क्रिया की जाती है।

यह विधि हमारे पूर्व गुरु सिद्धान्तसागर के पारगामी पूज्यपाद श्रीजगतिलकसूरि के उद्देश के आधार पर बताई गई है, हमारी समाचारी एवं गुरु-परम्परा में उद्देशकों एवं अध्ययनों की अनुज्ञा के बाद ही वर्ग, अध्ययन एवं शतक आदि की अनुज्ञा दी जाती है। उत्तम स्याद्वाद सिद्धांत पर आधारित जिनमत में दोनों में ही कोई दोष नहीं है, अतः अपने गुरु के संप्रदाय की विधि को प्रमाण मानकर उसके अनुसार क्रिया करना चाहिए। योगोद्धहन करते समय क्षय और वृद्धि तिथि में उदय की तिथि ही ग्राह्य होती है। संघट्ट उक्तमान, कालग्रहण, स्वाध्याय, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान आदि क्रिया का भंग होने पर, योगोद्धहन के बीच रोग उत्पन्न होने पर, अकाल में मल का उत्सर्ग

करने पर तथा देश पर विपत्ति आने की दशा में पलायन करने पर आदि विषम परिस्थितियों के कारण दिनों का भंग होता है। इस प्रकार योगोद्धहन में दिनों का भंग होने पर उन्हें उसी विधि से पूर्ण करना चाहिए। योगोद्धहन के दिनों की संख्या इस प्रकार है -

आवश्यकसूत्र के योग में आठ दिन, दशवैकालिकसूत्र के योग में पन्द्रह दिन, मण्डलीप्रवेश के योग में सात दिन, उत्तराध्ययनसूत्र के योग में अट्ठाईस दिन, आचारांगसूत्र के योग में पचास दिन, स्थानांगसूत्र के योग में अठारह दिन, समवायांग सूत्र के योग में तीन दिन, निशीथसूत्र के योग में दस दिन, कल्प-व्यवहार एवं दशाश्रुतस्कन्ध के योग में बीस दिन, सूत्रकृतांगसूत्र के योग में तीस दिन, भगवती अंग के योग में एक सौ छियासी दिन, ज्ञाताधर्मकथासूत्र के योग में तैंतीस दिन, उपासकदशांग के योग में बीस दिन, निरयावलिका उपांग के योग में सात दिन, अन्तकृतदशांग के योग में बारह दिन, अनुत्तरोपपातिकदशांग के योग में सात दिन, औपपातिकसूत्र के योग में तीन दिन, राजप्रश्नीयसूत्र के योग में तीन दिन, जीवाजीवाभिगमसूत्र के योग में तीन दिन, प्रज्ञापनासूत्र के योग में तीन दिन, सूर्यप्रज्ञप्ति, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति एवं चन्द्रप्रज्ञप्ति के योग में भी तीन-तीन दिन, प्रश्नव्याकरणसूत्र के योग में चौदह दिन, विपाकश्रुत के योग में चौबीस दिन, महानिशीथसूत्र के योग में पैंतालीस दिन, जीतकल्प के योग में एक दिन, पंचकल्प के योग में एक दिन - इस प्रकार कुल पाँच सौ इकसठ दिन होते हैं। इनकी मास-गणना करने पर अठारह मास इक्कीस दिन होते हैं - यह सभी योगों के दिन एवं मास की संख्या है।

इस प्रकार आचार्य श्रीवर्धमानसूरि विरचित आचारदिनकर के यतिधर्म के उत्तरायण में योगोद्धहन कीर्तन नामक यह इक्कीसवाँ उदय समाप्त होता है।



9. पूर्व में उपासकदशांग के योगोद्धहन की विधि में योग के कुल दिन चौदह बताए गए हैं।

// बाईसवाँ उदय //

वाचना-ग्रहण की विधि

वाचना-ग्रहण की विधि में - गुरुभक्त, क्षमावान्, कृतयोगी, निरोग, प्रज्ञावान्, शुद्ध बुद्धि के आठ प्रकार के गुणों से युक्त, विनीत, शास्त्र का रागी, निद्रा-आलस्य आदि को जीतने वाला, विषयेच्छा एवं सभी अवरोधों का त्यागी, यति के आचार को जानने वाला तथा हमेशा ईर्ष्या आदि से रहित मन वाला - इस प्रकार का मुनि सिद्धान्त के अध्ययन के लिए अति उत्तम पात्र माना गया है। उपर्युक्त लक्षण वाचना ग्रहण करने योग्य मुनि के लक्षण हैं। गुरु के लक्षण पूर्व में योगोद्धहन नामक अधिकार में कहे गए अनुसार ही हैं। अध्ययन (वाचना) सामग्री के लक्षण इस प्रकार हैं :-

“योगोद्धहन के योग्य सहायक तथा योग के लिए उपयुक्त समय (काल), प्रचुर मात्रा में पुस्तक-संपत्ति, अर्थात् ज्ञान-भंडार; आहार-पानी की सुलभता, कालग्रहण, अध्ययन के योग्य विघ्नरहित क्षेत्र, लेखनी, स्याही का पात्र (दवात), शुभशय्या एवं आसन।” यह वाचना-सामग्री का विवरण है। इस प्रकार योग की विधि में दृढ़ योग वाला मुनि विधि के अनुसार प्रभातकाल ग्रहण कर, स्वाध्याय का प्रस्थान करे। फिर गुरु के पास जाकर गमनागमन क्रिया में लगे दोषों का प्रतिक्रमण करे, अर्थात् उनकी आलोचना करे। फिर अनुयोग की मुखवस्त्रिका का प्रतिलेखन करके गुरु को द्वादशावर्त वन्दन करे। उसके बाद खमासमणासूत्रपूर्वक गुरु को वंदन कर निवेदन करे - “हे भगवन् ! अनुयोग (नंदी आदि आगमों का सूत्र-अर्थ प्रतिपादन करने की विधि), अर्थात् अध्ययन का कार्य आरंभ कराएं।” गुरु कहे - “मैं आरम्भ करवाता हूँ।” पुनः शिष्य खमासमणापूर्वक वंदन कर कहे - “अनुयोग के आरम्भार्थ मैं कायोत्सर्ग करता हूँ।” यह कहकर एवं अन्नत्थसूत्र बोलकर वह कायोत्सर्ग करे। कायोत्सर्ग में नमस्कारमंत्र का चिंतन करे। कायोत्सर्ग पूर्ण करके नमस्कारमंत्र बोले। फिर गुरु के आगे सुखासन में बैठकर, मुख को मुखवस्त्रिका से अलंकृत कर, पुस्तक देखकर या गुरु के वचनों का अनुकरण कर गीत आदि दोष

से रहित होकर मधुर स्वर से सिद्धांत का वाचन करे। यहाँ वाचना लेने पर परिपाटी वाचना, अर्थात् आवर्तन करना योग्य है। अर्थग्रहण तथा टीका- चूर्ण आदि के व्याख्यान के बीच कालग्रहण आदि की क्रिया का भी वर्जन होता है। सर्व प्रथम दशवैकालिकसूत्र की वाचना दे। फिर आवश्यक, उत्तराध्ययन, आचारांग सूत्र की वाचना दें। शेष आगमों की वाचना अध्येता की रुचि के अनुसार यथायोग्य क्रम या उत्क्रम से दे।

वाचना देने के बाद गुरु के साथ स्वाध्याय-प्रस्थापना करे। फिर “अनुयोग के (अर्थात् सूत्र अर्थ का प्रतिपादन करते समय लगे दोषों के) प्रतिक्रमणार्थ में कायोत्सर्ग करता हूँ” ऐसा कहकर एवं अन्नत्थसूत्र बोलकर कायोत्सर्ग करे, कायोत्सर्ग में नमस्कार मंत्र का चिन्तन करे। कायोत्सर्ग पूर्ण करके नमस्कार मंत्र बोले, वाचनाक्रम में वाचना करते हुए संघट्ट और आयम्बिल आदि कुछ भी न करे। साधु को हमेशा इस प्रकार की दिनचर्या करनी चाहिए। वाचना ग्रहण करने तक प्रतिदिन प्रभात कालग्रहण, स्वाध्याय-प्रस्थापन - दोनों का अनुयोग एवं कायोत्सर्ग करे।

इस प्रकार आचार्य श्री वर्धमानसूरिकृत आचारदिनकर में यतिधर्म के उत्तरायण में वाचनाग्रहण कीर्तन नामक यह बाईसवाँ उदय समाप्त होता है।



// तेईसवाँ उदय //

वाचनानुज्ञा-विधि

वाचना-अनुज्ञा द्वारा वाचनाचार्य पद पर स्थापना की विधि इस प्रकार से है -

‘कृतयोगी’, अर्थात् जिसने योग किया हुआ हो, गीतार्थ हो, वाचना देने में समर्थ हो और अध्यापक के सभी गुणों से युक्त हो, ऐसे लक्षणों वाला मुनि वाचनाचार्य पद के योग्य होता है।

आचार्य अपने शिष्य को निम्न विधि से वाचनाचार्य के पद पर आरूढ़ करते हैं। पदस्थापना का योग होने पर आचार्य शुभ तिथि, वार, नक्षत्र एवं लग्न में विशिष्ट वेश को धारण किए हुए गुरु अपने शिष्य को, जिसने लोच एवं आयम्बिल किया हुआ है, अपने पास बुलाए। तत्पश्चात् उपस्थापन की भाँति समवसरण आदि की रचना कराएं। फिर शिष्य से समवसरण की तीन प्रदक्षिणा दिलवाए। तत्पश्चात् शिष्य गुरु के समक्ष खमासमणासूत्र- पूर्वक वंदन करके कहे - “यदि आपकी इच्छा हो, तो आप वाचना की अनुज्ञा हेतु एवं नंदीविधि करने के लिए मुझ पर वासक्षेप करे एवं चैत्यवंदन कराएं।” फिर दोनों ही पूर्व की भाँति वर्द्धमानस्तुति द्वारा चैत्यवंदन करे। श्रुतदेवता, शान्तिदेवता, क्षेत्रदेवता, भुवनदेवता, शासनदेवता, वैयावृत्यकरदेवता का कायोत्सर्ग करे एवं पूर्ववत् स्तुति करे। फिर शक्रस्तव का पाठ करे। तत्पश्चात् अर्हणादिस्तोत्र एवं “जयवीरराय जगगुरु” सूत्र की गाथा बोलें। मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना करके गुरु को द्वादशावर्त्तपूर्वक वन्दन करे। फिर शिष्य खमासमणासूत्र पूर्वक वंदन करके कहे - “आप अपनी इच्छानुसार मुझे वाचना देने, तप-विधान कराने एवं दिशा की अनुज्ञा की अनुमति (आदेश) दें।” गुरु कहे - “मैं अनुमति (आदेश) देता हूँ।” शेष छः बार खमासमणासूत्रपूर्वक वंदन करना आदि सभी विधि-विधान पूर्ववत् करे। उसके बाद गुरु

’ दिशा की अनुज्ञा का तात्पर्य विहार की दिशा ही होना चाहिए।

और शिष्य “वाचना-दान, तप की अनुमति एवं दिशा की अनुज्ञा की अनुमति (आदेश) देने एवं ग्रहण करने के लिए मैं कायोत्सर्ग करता

हूँ”- यह कहकर अन्नत्थसूत्र बोलकर कायोत्सर्ग करे। कायोत्सर्ग में चतुर्विंशतिस्तव का चिन्तन करे। कायोत्सर्ग पूर्ण करके प्रकट में चतुर्विंशतिस्तव बोलें। फिर गुरु शिष्य के कान में वासक्षेपपूर्वक सर्वअवधि से लेकर मध्यगतलब्धि तक के चारों पदों को छोड़कर तीन बार वर्द्धमानविद्या मंत्र दें। शिष्य उसे सम्यक् रूप से अवधारण करे, अर्थात् ग्रहण करे। फिर गुरु शिष्य के सिर पर वासक्षेप करते हुए कहे - “तुम्हें वाचनाचार्य-पद प्रदान किया जाता है। वाचना देने, तप करवाने तथा दिशा की अनुज्ञा के विधि-विधान करवाने की मैं अनुमति देता हूँ।” फिर एक बार लघु नंदी का पाठ बोले। लघु नंदी बोलने के बाद अन्त में गुरु पुनः कहे - “इसे पुनः पढ़ाने के लिए, अमुक साधु को वाचनादान आदि की अनुज्ञा एवं नंदीक्रिया होती है।” यह बोलकर गुरु शिष्य के सिर पर वासक्षेप करे। इसके बाद गुरु/आचार्य वर्द्धमान-विद्या द्वारा वासक्षेप चूर्ण को अभिमंत्रित करे तथा उसे साधु-साध्वियों को दे।

“अमुक मुनि वाचनाचार्य हुए” - गुरु के साथ सभी यह घोषणा कर वाचनाचार्य के सिर पर वासक्षेप करे। तत्पश्चात् वाचनाचार्य गुरु के साथ समवसरण की तीन प्रदक्षिणा करे। फिर मात्र गुरु समवसरण की तीन प्रदक्षिणा करे। तदनन्तर वाचनाचार्य एक कम्बल पर बैठकर देशना दे। फिर पूरे संघ एवं गच्छ के सामने आचार्य या गुरु कहे - “अमुक वाचनाचार्य को व्रतारोपण कराने, नंदी कराने, योगोद्धहन कराने, वाचना देने, तपोविधान कराने, दिशा (विहार) आदि की अनुज्ञा देने, श्रावकों को व्रतारोपण कराने, आराधना कराने, साधु और श्रावकों के करने योग्य प्रतिष्ठा विधि कराने, शान्तिक एवं पौष्टिक कर्म कराने की अनुज्ञा (अनुमति) देता हूँ।” फिर पदस्थापना के बाद उस वाचनाचार्य को मंत्र की आराधना के लिए वलय से युक्त वर्द्धमान-विद्यापट दे। वाचनाचार्य “इच्छंति” - यह कहकर उस पट्ट को ग्रहण करे। फिर वाचनाचार्य गुरु एवं ज्येष्ठ साधुओं को वन्दन करे।

यह वाचनाचार्य-पद प्रदान करने की विधि है। इस अवसर पर उस राज्य के राजा, युवराज, मंत्री, सेनापति एवं श्रेष्ठ श्रावकवर्ग मिलकर महोत्सव करते हैं। सामान्य साधु को गण के नेतृत्व की

अनुज्ञा देने की भी यही विधि है, किन्तु गणनायक पद देते समय गुरु द्वारा “वाचनाचार्य हुए” - यह नहीं बोला जाता है। नंदीपाठ, वर्द्धमानविद्या- मंत्र प्रदान, पट-दान और आसन-दान की क्रिया भी नहीं होती है। गणनायक का उत्तम पद भी आचार्य के समान गुणों से युक्त मुनि को ही दिया जाता है।

इस प्रकार आचार्य श्री वर्द्धमानसूरिकृत आचारदिनकर नामक ग्रंथ में यतिधर्म के उत्तरायण में वाचनानुज्ञा कीर्तन नामक यह तेईसवाँ उदय पूर्ण होता है।



// चौबीसवाँ उदय //

उपाध्याय पदस्थापन-विधि

उपाध्याय पदस्थापन की विधि आचार्य पदस्थापना-विधि की भाँति ही है।

यहाँ इतना विशेष है कि उपाध्याय पदस्थापना में अक्षमुष्टि, वलय आदि नहीं होते हैं और गुरु-वन्दन भी नहीं करते हैं। कालग्रहण की विधि, बृहत्नन्दी-पाठ और यव आदि का भी वपन नहीं किया जाता है, किन्तु तीन बार लघुनन्दी का पाठ बोला जाता है। चौकोर, अर्थात् चार द्वार वाला वर्द्धमान विद्यापट प्रदान करते हैं तथा सम्पूर्ण वर्द्धमान विद्या का उद्देश देते हैं। साधु की उपाध्याय पदस्थापना की शेष विधि प्राचीन शास्त्रों में वर्णित आचार्य पदस्थापन की विधि के समान ही है।

इस प्रकार आचार्य श्रीवर्द्धमानसूरिकृत आचारदिनकर में यतिधर्म के उत्तरायण में उपाध्याय पदस्थापन कीर्तन नामक यह चौबीसवाँ उदय समाप्त होता है।



// पच्चीसवाँ उदय //

आचार्य पदस्थापन-विधि

दीक्षा और आचार्यादि पदस्थापन-विधि में मूल, पुनर्वसु, स्वाति, अनुराधा, हस्त, श्रवण, रोहिणी, मार्गशीर्ष एवं उत्तरात्रय नक्षत्र शुभ माने गए हैं। लत्तादि सप्त दोषों से रहित इन नक्षत्रों में तथा शुभ वर्ष, मास, दिन और लग्न में आचार्य पदस्थापन की विधि करे। पदस्थापना के लग्न में ग्रहों की युति दीक्षा के समान ही देखें तथा वर्ष, मास, दिन, नक्षत्र आदि की शुद्धि का विचार विवाह के समान करे। आचार्य पद के योग्य मुनि के लक्षण इस प्रकार हैं -

वह छत्तीस गुणों से युक्त, रूपवान् एवं अखण्डित अंगोपांग वाला हो, साथ ही सर्व विद्याओं में निपुण हो, कृतयोगी हो, द्वादशांगी का परिपूर्ण रूप से सम्यक् ज्ञान हो, शूरवीर, दयालु, धीर, गंभीर और मधुरभाषी हो, मनोहर आर्य देश में उत्पन्न एवं ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य - इन तीन वर्णों में जन्मा हुआ हो, माता-पिता दोनों के कुल से विशुद्ध हो, क्रोधादि कषायों एवं इन्द्रियों को जीतने वाला हो, विनीत हो, देशकाल और परिस्थिति को समझने वाला हो, स्व-पर शास्त्र का ज्ञाता हो, प्रतिभा सम्पन्न, विद्वान एवं तपकर्म में सदा रत रहने वाला हो, निर्देश देने में बहुत कुशल हो, पुरुष की बहत्तर कलाओं एवं षड्भाषाओं का ज्ञाता हो। सभी देशों की भाषाओं को समझने तथा बोलने में समर्थ हो, चौदह लौकिक विद्याओं में पारंगत हो, सौम्य (शान्त) तथा क्षमावान् हो, सर्व मंत्रादि को जानने वाला तथा परिस्थिति विशेष में उनका प्रयोग करने में समर्थ हो; सदाचारी, कृतज्ञ, स्पष्टवक्ता (निष्कपटी), लज्जावान् और नीतिवान् हो, अष्टांगयोग की साधना करने वाला हो। इन गुणों से युक्त उत्कृष्ट मुनि आचार्य पद के योग्य होता है।

आगम में भी कहा गया है -“आचार्य रूपवान् (श्रेष्ठ चारित्र वाला), युगप्रधान, अर्थात् देश-काल एवं परिस्थितियों के ज्ञाता, आगमज्ञ, मधुरवक्ता, गंभीर, बुद्धिमान और सन्मार्ग का उद्देश देने वाले होते हैं।”

इस प्रकार सर्वप्रथम आचार्य पद के योग्य मुनि के लक्षण बताए गए हैं। अब आचार्य पद के अयोग्य मुनि के लक्षण इस प्रकार से हैं -

पंचाचार से रहित, क्रूर स्वभाव वाला, कटुभाषी, कुरूप, विकलांग, अनार्य देश में उत्पन्न, जाति एवं कुल से हीन, अभिमानी, प्रशासन करने में अकुशल, विकथा करने वाला, ईर्ष्यालु, सांसारिक विषय भोगों में अनुरक्त, लोगों से द्वेष करने वाला, कायर, निर्गुण, अपरिपक्व, प्रकृति से दुष्ट आदि दोषों से युक्त साधु आचार्य पद के योग्य नहीं होता है। आगम में भी कहा गया है -“हाथ, पांव, कान, नाक, होठरहित, वामन, वडभ, कुब्ज, पंगु, लूला और काणा - ये व्यक्ति दीक्षा के अयोग्य हैं। दीक्षा लेने के बाद भी यदि कोई विकलांग हो जाता है, तो उसे आचार्य पद नहीं दिया जाता है। यदि आचार्य विकलांग हो जाए, तो उनके स्थान पर योग्य शिष्य को आचार्य पद देकर विकलांग आचार्य को चुराए हुए महिष की तरह गुप्त स्थान में रखा जाता है।”

उपर्युक्त वर्णित लक्षण आचार्य पद के अयोग्य व्यक्ति के लक्षण हैं। कहा भी गया है -“क्षीण बल वाला, वडभ, कूबड़ा मुनि आचार्य पद के योग्य नहीं होता है।”

पूर्व में बताए गए गुणों से युक्त पात्र मिलने पर ही उसे आचार्य पद पर स्थापित किया जाता है। इसकी विधि यह है - सर्वप्रथम वेदिका बनाना, यव आदि का वपन करना, आरती महोत्सव करना, बिना किसी प्रतिबन्ध के विपुलदान देना, भोजन प्रदान करना, अमारि की घोषणा करवाना, याचकों को संतुष्ट करना आदि ये सब कार्य श्रावकों द्वारा किए जाते हैं। यह लोकव्यवहार है। पदस्थापना के बाद भी श्रावकों द्वारा साधर्मिक वात्सल्य तथा संघ की पूजा आदि कार्य किए जाते हैं। ये सभी कार्य (शासन) शोभा के निमित्त एवं श्रावकों के पुण्य का वर्द्धन करने के लिए किए जाते हैं। आचार्य पद पर स्थापन की मूल विधि तो निम्नानुसार है -

लग्न-दिवस की पूर्व संध्या के समय गुरु दसियों से युक्त, अर्थात् बिना सिले हुए आचार्य के वेष को तलवार से अंकित ढाल के मध्य में रखकर गणिविद्या के द्वारा उसे अभिमंत्रित करे और रात्रि में

एक स्थान पर रख दे। श्रावकगण उस वेश के समीप गीत, वाद्य आदि महोत्सव द्वारा रात्रि-जागरण करे। लग्न के दिन केशलुंचन किए हुए भावी आचार्य ब्रह्ममुहूर्त में उठकर कालग्रहण करे और स्वाध्याय प्रस्थापन करे। इस स्थान पर (शिष्य) भगवन् (गुरु) के समक्ष करने योग्य कार्य का उच्चारण करते हैं और पत्र के अन्दर लिखते हैं तथा सिंह-आसन के समान ही आसन की स्थापना करते हैं। फिर आचार्य मुहूर्त (लग्न) का समय निकट आने पर प्रतिलेखित भूमि पर कम्बल आदि की प्रतिलेखना करके दो आसन बिछाए और उस आसन का स्पर्श करके कहे - “यह स्थापनाचार्य के योग्य है।” तब उस पर स्थापनाचार्य (अक्षयग्रन्थि) की स्थापना करे और दूसरे आसन पर स्वयं बैठे। फिर मात्र चोलपट्टा, मुखवस्त्रिका, रजोहरण को धारण किए हुए भावी आचार्य गुरु के आगे खमासमण्णासूत्रपूर्वक वन्दन करके कहे - “हे भगवन् ! मैं प्रभातकाल प्रवेदित करूँ ?” गुरु कहे - “प्रवेदित करो।” पुनः शिष्य खमासमण्णासूत्र पूर्वक वन्दन करके कहे - “हे भगवन् ! प्रभातकाल को प्रवेदित करे” गुरु कहे - “गुरु-परम्परा से प्राप्त सूत्र, अर्थ एवं सूत्रार्थ द्वारा महाव्रतरूपी गुणों का वर्द्धन करते हुए संसार-सागर पार करो।” फिर शिष्य (भावी आचार्य) गुरु के आगे वन्दन करके, मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना करे। तत्पश्चात् गुरु और शिष्य - दोनों ही स्थापनाचार्य के आगे द्वादशावर्त्तपूर्वक वन्दन करे, फिर भावी आचार्य खमासमण्णासूत्रपूर्वक वन्दन करके कहे - “हे भगवन् ! मैं स्वाध्याय करूँ ?” फिर गुरु एवं शिष्य पूर्ववत् स्वाध्याय प्रस्थापन करे। फिर दोनों ही “स्वाध्याय करणार्थ मैं कायोत्सर्ग करता हूँ” - ऐसा कहकर अन्नत्थसूत्र बोलकर कायोत्सर्ग करे। कायोत्सर्ग में नमस्कारमंत्र का चिन्तन करे। फिर कायोत्सर्ग पूर्ण करके दोनों ही हाथों को ऊपर की ओर लेकर चतुर्विंशतिस्तव बोलकर “धम्मो मंगल” से लेकर “संजमे सुट्टि अप्पाणं” तक की सत्तरह गाथाओं का मौन पूर्वक स्वाध्याय करें। पुनः मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना करके स्थापनाचार्य को वन्दन करें। अब खमासमण्णासूत्रपूर्वक वन्दन करके शिष्य कहता है - “स्वाध्याय प्रवेदित करें” पुनः मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना करके वन्दन करता है। फिर गुरु अपने पाट पर बैठता है। शिष्य शेष स्वाध्याय विधिपूर्वक पूर्ण करे। फिर चैत्य में, या विशुद्ध

पौषधशाला में, या तीर्थ में, या मनोहर उद्यान में समवसरण की स्थापना कराए। भावी आचार्य उस समवसरण की तीन प्रदक्षिणा करे। अक्षपोट्टलिका' को सूरिमंत्र से चंदन (श्रीखण्ड) कपूर आदि द्वारा एवं ग्रन्थि से अभिमंत्रित करे। अक्षपोट्टलिका-वल्लय, यंत्र- स्थापना प्रतिष्ठा-विधि एवं कल्पना-विधि प्रतिष्ठा अधिकार में कही गई हैं। फिर गुरु आसन से उठकर खड़ा होता है। तत्पश्चात् शिष्य खमासमणासूत्रपूर्वक वंदन करके कहता है - "हे भगवन् ! आपकी इच्छा हो, तो आप मुझे द्रव्य, गुण, पर्याय द्वारा अनुयोग के ज्ञापनार्थ नंदी करने के लिए वासक्षेप करे एवं चैत्यवंदन कराएं।" गुरु चंदन, कस्तूरी, कालागुरु, कुंकुम आदि से निर्मित सुगन्धित चूर्ण (वासक्षेप) को सूरिमंत्र द्वारा अभिमंत्रित करता है। वासक्षेप को निम्न सोलह मुद्राओं द्वारा अभिमंत्रित किया जाता है -

१. परमेष्ठीमुद्रा २. कामधेनुमुद्रा ३. गरुड़मुद्रा ४. आरात्रिकमुद्रा ५. सौभाग्यमुद्रा ६. गणधरमुद्रा ७. अंजलिमुद्रा ८. मुक्तासुक्तिमुद्रा ९. यथाजातमुद्रा १०. वज्रमुद्रा ११. मुद्गरमुद्रा १२. योनिमुद्रा १३. स्नानमुद्रा १४. छत्रमुद्रा १५. समाधानमुद्रा १६. कल्पवृक्षमुद्रा।

इन मुद्राओं को धारण कर सूरिमंत्र द्वारा अभिमंत्रित वासक्षेप (सुगन्धित चूर्ण) को भावी आचार्य के सिर पर डालते हैं। फिर गुरु दाएँ हाथ की ओर एवं शिष्य बाएँ हाथ की ओर स्थित होकर वर्द्धमान-स्तुतियों द्वारा चैत्यवंदन करते हैं। तत्पश्चात् श्रुत-देवता, शान्तिदेवता, क्षेत्रदेवता, भुवनदेवता, शासनदेवता और वैयावृत्यकर देवता की स्तुति पूर्व में कहे गए अनुसार करते हैं।

फिर शक्रस्तव, अर्हणादि स्तोत्र एवं जयवीराराय की गाथाएँ

१. स्थापनाचार्य जी की पोटली।

बोलते हैं। तत्पश्चात् शिष्य मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना करके द्वादशावर्त्तपूर्वक वन्दन करे। फिर दोनों ही "अनुयोग प्रारंभ करने के निमित्त मैं कायोत्सर्ग करता हूँ"- ऐसा कहकर अन्नतथसूत्र बोलकर कायोत्सर्ग करे। कायोत्सर्ग में चतुर्विंशतिस्तव का चिंतन करे एवं कायोत्सर्ग पूर्ण करके प्रकट में चतुर्विंशतिस्तव बोलें। फिर खड़े होकर

आचार्य या भावी आचार्य या गीतार्थ, कृतयोगी या अन्य साधु तीन बार नमस्कार-मंत्र पढ़कर मुखाग्र या पुस्तक देखकर सप्तशती नदी का पाठ पढ़ता है। भावी आचार्य मुख को मुखवस्त्रिका से आच्छादित करके एकचित्त होकर सुनता है। नदी समाप्त होने पर सुगन्धित चूर्ण को अभिमंत्रित करते हैं। फिर उसे तीर्थकर परमात्मा (प्रतिमा) के चरण से स्पृष्ट करते हैं और चतुर्विध संघ को वह सुगन्धित चूर्ण एवं अक्षत देते हैं। तत्पश्चात् शिष्य खमासमणा सूत्रपूर्वक वंदन करके कहता है - “आपकी इच्छा हो, तो आप मुझे अनुयोग की आज्ञा प्रदान करें।” गुरु कहे - “गुरु-परम्परा से प्राप्त द्रव्य, गुण और पर्याय से युक्त अनुयोग की मैं तुम्हें आज्ञा देता हूँ।”

पुनः शिष्य खमासमणासूत्रपूर्वक वंदन करके कहता है - “मुझे आज्ञा दें, मैं क्या पढ़ूँ ?” गुरु कहे - “वन्दन करके प्रवेदन करो।” इसके पश्चात् पुनः शिष्य खमासमणासूत्र पूर्वक वंदन करके कहता है - “आपकी इच्छा हो, तो आप मुझे अनुयोग की अनुज्ञा दें एवं शिक्षित करें।” गुरु कहे - “अनुयोग का सम्यक् रूप से अवधारण करके उसे दूसरों को प्रतिपादित करो।” पुनः शिष्य खमासमणासूत्रपूर्वक वंदन करके कहता है - “आपने जो कहा है, उसे साधुओं को प्रज्ञप्त करने की अनुमति दें।” गुरु कहे - “गुरु-परम्परा से प्राप्त सूत्र, अर्थ एवं सूत्रार्थ द्वारा महाव्रतरूपी गुणों का वर्द्धन करते हुए संसार-सागर से पार होओ।” फिर नवीनाचार्य समवसरण और पूर्वाचार्य को तीन प्रदक्षिणा देता है। तत्पश्चात् नवीनाचार्य - “अनुयोग की आज्ञार्थ मैं कायोत्सर्ग करता हूँ” - ऐसा कहकर अन्नत्थसूत्र बोलकर कायोत्सर्ग करे। कायोत्सर्ग में चतुर्विंशतिस्तव का चिन्तन करे एवं कायोत्सर्ग पूर्ण करके प्रकट में चतुर्विंशतिस्तव बोले। पुनः नवीनाचार्य समवसरण एवं गुरु को तीन प्रदक्षिणा दे और तीन-तीन बार खमासमणासूत्र से वंदन कर कायोत्सर्ग करे एवं प्रदक्षिणा दे। फिर नवीन आचार्य अपने गुरु की दाईं भुजा के पास स्थित नवनिर्मित आसन पर बैठे। लग्न-वेला के आने पर गुरु नवीनाचार्य के दाएं कर्ण को गन्ध, अक्षत एवं पुष्पों द्वारा गुरु परम्परानुसार पूजित करके सकल ऋद्धि-सिद्धि दायक, शाश्वत, चिन्तामणि एवं कल्पवृक्ष से भी अधिक प्रभावशाली सूरिमंत्र को नवीनाचार्य के दाएँ कर्ण में तीन बार बोले और उसी समय गन्ध

एवं अक्षत से युक्त अक्षपोट्टलिका को उनके हाथ में दे। शिष्य भी मंत्र को तथा गन्ध एवं अक्षत से युक्त अक्षपोट्टलिका को परम आस्तिक्य, अर्थात् अहोभाव से ग्रहण करे। फिर गुरु नवीनाचार्य का उसके पूर्व नाम से संबंधित, सात प्रकार की शुद्धियों से युक्त, गुरु-परम्परा के अनुरूप या देवताओं द्वारा उपदिष्ट नामकरण करे। तत्पश्चात् संघ नवीनाचार्य पर सुगन्धित चूर्ण डाले। फिर गुरु अपने आसन पर बैठे। सर्व साधुओं के साथ गुरु भी मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना करके आचार्य के पद पर विराजित नवीनाचार्य को वंदन करे। पुनः नवीनाचार्य भी आसन पर विराजित गुरु को उसी प्रकार से वन्दन करे। समान पद की प्रसिद्धि के लिए दोनों को परस्पर वंदन करने में कोई दोष नहीं है। फिर गुरु नवीनाचार्य से कहे - “व्याख्यान दो।” नवीनाचार्य अपने ज्ञान सामर्थ्य के अनुरूप नंदी आदि का व्याख्यान दे। व्याख्यान के बाद साधु व साध्वियाँ, श्रावक एवं श्राविकाएँ नवीनाचार्य को वन्दन करे। तदनन्तर नवीनाचार्य गुरु के आसन से उठकर स्वयं के आसन पर बैठे। गुरु अपने आसन पर बैठकर नवीनाचार्य को हितशिक्षा दे। वह हितशिक्षा इस प्रकार है -

“आप धन्य हैं, आपने वज्र से भी दुर्भेद संसाररूपी पर्वत को ध्वस्त करने वाले महान् जिन-आगम को जान लिया है। आपको जिस पद पर आरोपित किया गया है, वह सत् संपदा का एक पद है, जो लोक में अति उत्तम है और महापुरुषों द्वारा सेवित है। इस संसार-सागर को पार कराने वाले भी धन्य हैं, जो इसके पार गए हैं, वे भी धन्य हैं और जो पार जाते हैं, वे भी धन्य हैं। भयावह संसाररूपी वन से पार कराने में समर्थ सभी साधुवृन्द आपके शरणागत हों। अनेक गुणों के धारक निर्मल परमात्म तत्त्व को प्राप्त करके जो सांसारिक जीवों को शरण देते हैं, वे भी धन्य हैं। आप भावरोग से पीड़ित लोगों के लिए श्रेष्ठभाव वैद्य हैं। आप सत्-संस्कार से युक्त जीवों को प्रयत्न पूर्वक विमुक्त कराने वाले हैं। मोक्षरूपी लक्ष्य के प्रति पूर्णतः प्रतिबद्ध और निस्पृही अप्रमत्त लोगों के हित को ध्यान में रखकर गुरु उन्हें संसार से विमुक्त कराते हैं। आप अपने पद के अनुरूप मुनि-आचार के कल्प का निर्धारण करके सदा चेष्टापूर्वक उसका प्रतिपादन करने वाले हो।”

फिर शिष्य-समान गण के अन्य मुनियों को हित शिक्षा देते हुए कहते हैं -

“बोधि को प्राप्त तथा संसार को पार कराने वाले - ऐसे इन गुरु का त्याग तुम कभी भी मत करना। इनके प्रतिकूल आचरण कभी मत करना, सदैव अनुकूल ही आचरण करना, क्योंकि इसी से ही तुम्हारा यह गृहत्याग सफलीभूत होगा, अन्यथा तुम लोकबन्धु भगवान् की आज्ञा का लोप करने वाले बनोगे। उससे इसलोक और परलोक - दोनों लोकों में विडम्बना होगी और इससे “दुराचारी कुलवधू के न्यायानुसार” तुम्हारे कार्यों की निर्भत्सना होगी। तुम्हें जीवनपर्यन्त गुरु के पादमूल का कभी भी त्याग नहीं करना चाहिए। ये (नवीनाचार्य) निर्मल सददर्शन को प्राप्त ज्ञान के भाजन हैं। शास्त्र का वचन है - “जो सदैव गुरु की सेवा करता है, वह निष्प्रकंप चारित्र्य वाला होता है।” तुम भी धन्य हो, जिन्होंने सब दुःखों को दूर करने वाले जिनवचनों को जान लिया है। तुम सदाकाल इन नवीनाचार्य के प्रति सम्यक् व्यवहार करना। यह समत्वयोग (साधु जीवन) अन्य योगों में सर्वश्रेष्ठ योग है। जो इसे प्राप्त कर लेता है, वह कैवल्य को प्राप्त करता है। संसार के प्राणियों के लिए यह केवलज्ञान की प्राप्ति का सर्वश्रेष्ठ हेतु है। संवेग आदि स्वभाव वाला होने से यह मोह पर विजय प्राप्त कराता है। लोकोत्तम श्रेष्ठ जिन द्वारा प्रतिपादित यह उत्तम मोक्षमार्ग है। लोक में उत्तम पुरुषों द्वारा सेवित यह उत्तम फल को प्रदान करने वाला है। जो लोग इसमें स्थिर हैं, वे धन्य हैं और वे भी धन्य हैं, जो इस मार्ग पर चलकर संसार-समुद्र को पार करते हैं। सम्यक्दर्शन आदि की साधना द्वारा संसार-सागर से पार होने वाले जन्म-मरण के दुःखों से भी पार हो जाते हैं। जन्म-मरण के दुःख से संकुल आत्मा को त्राण देने में असमर्थ, ऐसे इस भवचक्र से भयभीत जीवों को, जो केवलज्ञान प्राप्त करके दुःखों से त्राण दिलाता है, वह धन्य है। अज्ञान की बाह को पकड़ने वाले के समान दूसरा कोई शत्रु नहीं होता है। यह सम्यक् दर्शन आदि मोक्ष-मार्गरूपी भाववैद्य उनको भी इस बाह से छुड़ाता है। हे सम्यग्दर्शन ! तू निविड संसाररूपी दुःख से मुक्त कराने वाला भाववैद्य है। मैं प्रयत्नपूर्वक तेरी शरण को प्राप्त होता हूँ। हे सम्यग्दर्शन ! तू दूसरों का हित करने में सदैव

तत्पर अप्रमत्तजनों को संसार-सुख प्रदान करने वाला तथा मोक्ष-सुख प्रदान करने वाला है। (हे सम्यग्दर्शन ! तू परहित करने में सदैव तत्पर अप्रमत्तजनों को प्रमोद देता है और इस प्रकार तू संसार का भी सुख देता है और मोक्ष का भी सुख देता है।) सिद्धांत-ग्रंथों में जैसा कहा गया है, उसके अनुरूप अपनी स्थिति को ध्यान में रखते हुए सम्यग्दर्शन का सदैव पालन करो।”

अब नवीनाचार्य के शिष्यों को हित शिक्षा देते हैं -

“यत्नापूर्वक तुम सब संसाररूपी भयंकर (गहन) अटवी में सिद्धपुर के सार्थवाह रूप गुरु का क्षणभर के लिए भी त्याग मत करना। इनके ज्ञानराशि से युक्त वचनों के प्रतिकूल आचरण मत करना। इस प्रकार तुम्हारा यह गृहत्याग सफल होगा। जो इस लोक में परम गुरु, अर्थात् परमात्मा या आचार्य की आज्ञा का भंग करता है, निश्चित रूप से उसका इहलोक और परलोक - दोनों विफल होते हैं और इससे “दुष्टा कुलवधू के न्यायानुसार” तुम्हारे कार्यों की निर्भत्सना होगी। जीवनपर्यन्त गुरु के पादमूल का कभी भी त्याग मत करना। इस प्रकार ज्ञान-दर्शन एवं चारित्र्य में स्थित गुरु के सहभागी होना। निश्चित ही वे धन्य है, जो यावज्जीवन गुरुकुल का त्याग नहीं करते हैं। जो आचार्य के वचन का अनुसरण करता है, वह आर्या चंदना एवं मृगावती के समान परम लक्ष्य को प्राप्त करता है।” इस हितशिक्षा के बाद साधुवर्ग नूतन आचार्य को उपकरण एवं पुस्तक आदि भेंट करते हैं। श्रावक दस दिन तक संघपूजा आदि महोत्सव एवं अष्टान्हिकास्नात्र करते हैं। गुरु हितशिक्षा देकर शेष शिष्यों को नूतन आचार्य की उपासना एवं विनय करने के लिए अनुशासित करता है। फिर दोनों ही आचार्य “अनुयोग के विसर्जनार्थ मैं कायोत्सर्ग करता हूँ”- ऐसा कहकर अन्नत्थसूत्र बोलकर कायोत्सर्ग करे। कायोत्सर्ग में चतुर्विंशतिस्तव का चिन्तन करे तथा कायोत्सर्ग पूर्ण करके प्रकट में चतुर्विंशतिस्तव बोलें। फिर पुनः “काल के प्रतिक्रमणार्थ मैं कायोत्सर्ग करता हूँ”- ऐसा कहकर अन्नत्थसूत्र बोलकर कायोत्सर्ग करे। कायोत्सर्ग में चतुर्विंशतिस्तव का चिन्तन करे। कायोत्सर्ग पूर्ण करके प्रकट रूप में चतुर्विंशतिस्तव बोलें। फिर नूतनाचार्य खमासमणासूत्र से गुरु (पूर्वाचार्य) को वंदन करके कहे - “हे भगवन् ! अनुयोग निरूद्ध,

अर्थात् प्रत्याख्यान (प्रतिज्ञा) कराएं।“ तब गुरु आयम्बिल का प्रत्याख्यान कराते हैं। लोकाचार के लिए नए आचार्य को कंकण बाँधने एवं मुद्रिका पहनाने की क्रिया पूर्व के समान ही की जाती है।

इस प्रकार आचार्य श्रीवर्द्धमानसूरिकृत आचारदिनकर में यतिधर्म के उत्तरायण में आचार्य पदस्थापन कीर्तन नामक यह पच्चीसवाँ उदय समाप्त होता है।



// छब्बीसवाँ उदय //

यतियों की बारह प्रतिमाओं के उद्वहन की विधि

यति की बारह प्रतिमाएँ हैं। संहनन अर्थात् शारीरिक संरचना के अनुसार कष्ट को सहन करने में असमर्थ होने के कारण तथा धैर्य, बल और सहनशक्ति के अभाव के कारण इस दुषमकाल में इन प्रतिमाओं का उद्वहन करना दुष्कर कार्य है। आचार्य महागिरि द्वारा इस दुषमकाल में भी जिनकल्प की साधना करने में समर्थ मुनि कोई धृतिमान् धीरमुनि इनमें से कितनी भी प्रतिमाओं की साधना कर सकता है, इसके लिए इनकी विधि बताते हैं। ये बारह प्रतिमाएँ इस प्रकार हैं -

“मास के क्रमानुसार एक मास से लेकर सात मास तक की सात प्रतिमाएँ, सप्तरात्रि की तीन प्रतिमाएँ, एक दिन-रात की एक प्रतिमा और एक रात्रि की एक प्रतिमा - इस तरह भिक्षुक की ये बारह प्रतिमाएँ हैं।”

१. एकमासिक २. द्विमासिक ३. तीनमासिक ४. चारमासिक ५. पाँचमासिक ६. छःमासिक ७. सातमासिक पुनः ८. सातरात्रिकी ९. सातरात्रिकी १०. सातरात्रिकी - ऐसी तीन प्रतिमाएँ ११. एक दिन और रात की एक प्रतिमा एवं १२. एक रात की एक प्रतिमा इस प्रकार यति की बारह प्रतिमाएँ हैं।

प्रतिमा का उद्वहन करने के योग्य मुनि के लक्षण इस प्रकार से हैं -

सम्पूर्ण विद्याओं में निपुण, बुद्धिमान, वज्रसंघयणयुक्त शरीर वाला, महासत्त्वशाली, जिनमत में सम्यक् श्रद्धा रखने वाला, स्थिराशय, अर्थात् दृढसंकल्प वाला, गुरु की आज्ञा का पालन करने वाला, ज्ञान श्रुत का धारक, तत्त्वज्ञ, विसृष्ट देहवाला, धीर (धैर्यवान्), जिनकल्प को वहन करने के योग्य, परीषहों का सहन करने वाला, गच्छ का भी ममत्व त्याग करने वाला, धातुदोष का प्रकोप होने पर भी कामभोग की अभिलाषा न करने वाला, नीरस एवं विविध पकवानों के रहित

आहार-पानी लेने वाला - ऐसा शुद्धात्मा मुनि प्रतिमोद्धहन के योग्य होता है। प्रतिमाओं के उद्वहन की विधि इस प्रकार है -

सम्पूर्ण गच्छ का परित्याग करे और साधुओं में, पुस्तकों में, पात्रों में, वस्त्रों में और वसति में भी ममत्व न रखे। नीरस भोजन ग्रहण करे, वन में रहे, वज्रपात होने पर भी क्षुभित न हो, अटवी में भी निर्भय रहे, निजदेह के प्रति भी निर्ममत्व का भाव रखे, कष्टों में भी सुखपूर्वक रहे, माघ मास की शीत में प्रकम्पित न हो एवं ताप तपे नहीं, अर्थात् आतापना न ले, ग्रीष्मकाल में आतापना ले। शरीर को काटने, फाड़ने पर भी देह के प्रति मूर्च्छा न रखे और न ही क्रोध करे। चक्रवर्ती की ऋद्धि देखने पर भी विस्मय न करे, हास्यादि षट्दोषों का त्याग करे, सभी बाह्य स्थितियों में ममत्व न रखे इत्यादि - ये योग्यताएँ सभी प्रतिमाओं के उद्वहन के लिए आवश्यक हैं। यह सभी प्रतिमाओं के उद्वहन की सामान्य चर्या है।

मृदु, ध्रुव, चर तथा क्षिप्र नक्षत्रों को छोड़कर एवं मंगलवार तथा शनिवार को छोड़कर अन्य सभी नक्षत्र प्रथम बार गोचरी, तप, नंदी एवं लोच करने हेतु शुभ कहे गए हैं। साधक अपने चंद्रबल में प्रतिमा वहन का प्रारम्भ करे। सभी प्रतिमाओं की चर्या यही है।

प्रथम प्रतिमा एक मास की है। उसका एक मास तक वहन करे। वन में रहकर साधु एक मास तक हमेशा कायोत्सर्ग में रहे। कायोत्सर्ग में किसी भी प्रकार का सांसारिक चिन्तन न करते हुए प्रतिमा का वहन करे। भोजन हेतु एकदत्ति पानी की या एकदत्ति आहार की ग्रहण करे, अर्थात् किसी दिन पानी की एक दत्ति ग्रहण करे और किसी दिन भोजन की एकदत्ति ग्रहण करे। किसी दिन दत्ति की विधि से प्राप्त पानी से ही पूरा दिन व्यतीत करे और किसी दिन दत्ति की विधि से प्राप्त भोजन मात्र से ही पूरा दिन व्यतीत करे तथा इन दोनों के ही प्राप्त न होने पर संतोष धारण करे - यह प्रथम एक मासिक प्रतिमा की उद्वहन विधि है।

दूसरी दो मास की प्रतिमा का वहन भी इसी विधि से करे। इसमें दो मास तक दो दत्ति ग्रहण करे, अर्थात् एक दत्ति पानी की और एक दत्ति भोजन की। उसी प्रकार तीसरी त्रैमासिकी प्रतिमा है - इसमें तीन मास तक तीन-तीन दत्ति ली जाती हैं, अर्थात् दो दत्ति

भोजन की और एक दत्ति पानी की या दो दत्ति पानी की और एक दत्ति आहार की ग्रहण करे। चौथी चातुर्मासिकी प्रतिमा है - इस प्रतिमा का चार मास तक वहन किया जाता है। इसमें चार दत्ति होती हैं - दो दत्ति पानी की और दो दत्ति भोजन की। पाँचवी प्रतिमा पाँच मास की है। पाँच मास तक उसका भी इसी प्रकार से वहन करे। इसमें आहार-पानी की पाँच दत्ति ग्रहण की जाती हैं - तीन भोजन की और दो पानी की या दो भोजन की और तीन पानी की। छठवी प्रतिमा छः मास की होती है। छः मास तक उसका भी इसी प्रकार से वहन करे। इसमें छः दत्ति ग्रहण की जाती हैं - तीन भोजन की और तीन पानी की। सातवी प्रतिमा सप्तमासिक होती है। इसे पूर्ववत् सात मास तक वहन करे। इसमें आहार-पानी की सात दत्ति ग्रहण की जाती हैं - तीन भोजन की एवं चार पानी की, अथवा चार भोजन की और तीन पानी की। इन सातों ही प्रतिमाओं में निश्चित दत्तियों का ही ग्रहण करे। प्राणान्त की स्थिति में भी अधिक दत्तियों का ग्रहण न करे। उक्त दत्तियाँ प्राप्त न होने पर संतोष धारण करे। इस प्रकार ये सात प्रतिमाएँ हैं।

आठवी प्रतिमा सात अहोरात्रि की होती है। प्रथम दिन एकभक्त करे, दूसरे दिन निर्जल उपवास करे, तीसरे दिन एकभक्त करे, चौथे दिन निर्जल उपवास करे, पाँचवें दिन एकभक्त करे, छठें दिन निर्जल उपवास करे, सातवें दिन एकभक्त करे। इस प्रकार तीन दिन उपवास और चार एकासने के तप से यह प्रतिमा पूर्ण होती है। इस प्रतिमा के एकभक्त में भी जिसे कोई खाना न चाहे, ऐसे अति नीरस आहार को ग्रहण करे। सभी परिषहों को सहन करे, कायोत्सर्ग आसन में खड़े होकर दृढ़तापूर्वक सप्त अहोरात्रि की प्रतिमा का वहन करे। भिक्षा को छोड़कर हमेशा इस प्रतिमा में कायोत्सर्ग के साथ उत्थित आसन में रहे - यह आठवी प्रतिमा है।

नवी प्रतिमा भी सात अहोरात्रि की है। इसमें तपश्चर्या आठवी प्रतिमा की भाँति ही करे, किन्तु सात अहोरात्रि तक उत्कटिक आसन और दण्डासन में स्थित रहे - यह नवी प्रतिमा है। दसवी प्रतिमा भी सात अहोरात्रि की है - इसमें तपश्चर्या तो आठवी प्रतिमा की भाँति ही करे। इसमें हमेशा गोदुहिका, वीरासन एवं कुब्जकासन में

स्थित रहे - यह दसवीं प्रतिमा है। ग्यारहवीं प्रतिमा एक अहोरात्रि की है। इसमें निर्जल दो उपवास करे तथा जिस प्रकार व्याघ्र के हाथ और पैर नीचे की तरफ होते हैं, उस तरह की स्थिति में रहे - यह ग्यारहवीं प्रतिमा है। बारहवीं प्रतिमा एक रात्रि की है। इसमें निर्जल तीन उपवास करे तथा निर्निमेष दृष्टिपूर्वक व्याघ्रांचित पाणिपाद की स्थिति में रहे - इस प्रकार यह यति की बारह प्रतिमाएँ हैं। सभी प्रतिमाओं में गच्छ का परित्याग करना आदि क्रियाएँ एक जैसी हैं। प्रत्येक प्रतिमा में आचरण की जो विशेषता बताई गई है, उसका आचरण उसी प्रकार करे। मुनि द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव का ज्ञाता होता है। प्राचीन काल में स्वस्थ मुनि प्रतिमा का वहन करते थे, वर्तमान में कष्ट सहन करने की दैहिक- सामर्थ्य कम होने से नहीं करते हैं। यति की बारह प्रतिमाओं में कुल दिनों की संख्या अट्ठाईस मास छब्बीस दिन है और तप की संख्या आठ सौ चालीस दत्ति, छब्बीस उपवास एवं अट्ठाईस एकभक्त है।

आचार्य श्रीवर्धमानसूरि विरचित आचारदिनकर के यतिधर्म के उत्तरायण में प्रतिमोद्धहनकीर्तन नामक यह छब्बीसवाँ उदय पूर्ण होता है।



// सत्ताईसवाँ उदय //

साध्वी को व्रत प्रदान करने की विधि (दीक्षा-विधि)

बीस प्रकार की स्त्रियाँ व्रत प्रदान करने के लिए अयोग्य होती हैं। उनमें से जिन अठारह प्रकार के दोषों से युक्त पुरुष व्रत के लिए अयोग्य कहे गए हैं, उन्हीं अठारह दोषों से युक्त स्त्रियाँ भी अयोग्य होती हैं। इसके अतिरिक्त गर्भिणी और बालवत्सा स्त्री भी दीक्षा (व्रत) प्रदान करने के लिए अयोग्य मानी जाती हैं। इस प्रकार व्रत का उपघात करने वाले स्त्रियों के दोष बीस होते हैं। इन सभी बीस दोषों का परिहार करके स्त्रियों को दीक्षा दें। कुमारी या विवाहित वैराग्य वासित स्त्री द्वारा अपने पति, पुत्र, पिता या बन्धुजनों से अनुज्ञा प्राप्त कर लेने पर दीक्षादाता गुरु बिना किसी अवरोध के उसे दीक्षा दे और साधुवाद दे।

जैसा कि आगम में कहा गया है -“माता, पिता की आज्ञा के बिना भी अपने सत्त्व पर दीक्षा की इच्छा रखने वाला पुरुष दीक्षा लेने के लिए स्वतंत्र है, उसे माता-पिता की आज्ञा की अनिवार्यता नहीं होती है, किन्तु स्त्री पिता और पति की आज्ञा के बिना दीक्षा लेने के लिए स्वतंत्र नहीं है और उसे बिना आज्ञा के दीक्षा देना कल्प्य नहीं है। इस प्रकार पिता, पति आदि से अनुमति प्राप्त स्त्री को ही व्रत प्रदान करे। इसकी सम्पूर्ण दीक्षा-विधि मुनि की दीक्षा-विधि के समान ही है, मात्र गुरु के द्वारा शिखासूत्र का उपनयन और वेशदान नहीं किया जाता है। शिखा सूत्र का उपनयन एवं वेशदान प्रवर्तिनी आदि अन्य साध्वी के हाथ से किया जाता है। शेष क्रिया मुनि की दीक्षा-विधि के समान ही है।

आचार्य श्रीवर्धमानसूरि विरचित आचारदिनकर के यतिधर्म के उत्तरायण में साध्वी (व्रतिनी) को दीक्षा-व्रत प्रदान करने सम्बन्धी यह सत्ताईसवाँ उदय पूर्ण होता है।



// अट्टाईसवाँ उदय //

प्रवर्तिनीपदस्थापना-विधि

यहाँ कुछ आचार्य प्रवर्तिनीपद एवं महत्तरापद की विधि एक ही बताते हैं, जबकि कुछ आचार्य इसकी विधि अलग बताते हैं। सर्व गच्छों के आचार्यों और उपाध्यायों की सम्मति से यहाँ इसको एक अलग विधि के रूप में विवेचित किया जा रहा है। प्रवर्तिनीपद के योग्य साध्वी के लक्षण इस प्रकार हैं - इन्द्रियों को जीतने वाली हो, विनीता (विनयवान्) हो, कृतयोगिनी हो, आगम को धारण करने वाली हो, मधुरभाषी हो, स्पष्टवक्ता हो, करुणामयी हो, धर्मोपदेश में सदा निरत रहने वाली हो, गुरु एवं गच्छ के प्रति स्नेहशील हो, शान्त हो, विशुद्धशील वाली हो, क्षमावान् हो, अत्यन्त निर्मल हो, अनासक्त हो, लिखने आदि के कार्यों में सतत उद्यमशील हो, धर्मध्वज (रजोहरण) आदि उपधि बनाने में सक्षम हो, विशुद्ध कुल में उत्पन्न एवं सदा स्वाध्याय करने वाली हो - ऐसी साध्वी को सदैव प्रवर्तिनी पद के लिए योग्य माना जाता है - ये प्रवर्तिनी पद के योग्य साध्वी के लक्षण हैं।

प्रवर्तिनीपद-स्थापना की विधि निम्नानुसार है -

उपर्युक्त गुणों से युक्त साध्वी, जिसने लोच तथा अल्पप्रासुक जल से स्नान किया हुआ है, के प्रवर्तिनी पद-ग्रहण करने की विधि श्रावकजन बड़े महोत्सवपूर्वक करे। सर्वप्रथम समवसरण की स्थापना करे। प्रवर्तिनी पूर्व की भाँति ही समवसरण की तीन प्रदक्षिणा करे। फिर सदश, बिना सिले हुए वस्त्रों, रजोहरण एवं मुखवस्त्रिका को धारण किए हुए वह साध्वी खमासमणासूत्रपूर्वक वंदन करके आसन पर विराजित गुरु से कहे - “आपकी इच्छा हो, तो आप मुझे प्रवर्तिनीपद पर आरोपित करने के लिए नंदीक्रिया करने हेतु वासक्षेप करे एवं चैत्यवंदन कराएं।” फिर गुरु वर्द्धमानविद्या से अभिमंत्रित वासक्षेप करे। तत्पश्चात् गुरु और प्रवर्तिनी - दोनों वर्द्धमान स्तुति द्वारा चैत्यवंदन करें। श्रुतदेवता, शान्तिदेवता, क्षेत्रदेवता आदि के कायोत्सर्ग एवं स्तुति पूर्ववत् करे। फिर “प्रवर्तिनी पद आरोपणार्थ मैं

कायोत्सर्ग करती हूँ“— ऐसा कहकर अन्नत्थसूत्र बोलकर कायोत्सर्ग करे। कायोत्सर्ग में चतुर्विंशतिस्तव का चिन्तन करे। कायोत्सर्ग पूर्ण करके प्रकट में चतुर्विंशतिस्तव बोले। फिर प्रवर्तिनी मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना करके द्वादशावर्त्तपूर्वक वन्दन करे। तत्पश्चात् खमासमणासूत्र से वंदन करके कहे - “आपकी इच्छा हो, तो आप मुझे गच्छ की साध्वियों के प्रवर्त्तन की अनुज्ञा दें।” गुरु कहे - “मैं अनुज्ञा देता हूँ।” फिर खमासमणासूत्रपूर्वक छह बार वन्दन एवं गुरु-शिष्य का वार्तालाप रूप, अर्थात् अनुज्ञा देने और लेने की विधि पूर्ववत् करे। आचार्य पद के समान ही उपयुक्त लग्नवेला के आने पर गुरु गन्ध, पुष्प एवं अक्षत द्वारा पूजित प्रवर्तिनी के दाएँ कर्ण में तीन बार षोडशाक्षरी परमेष्ठी विद्या दे और पूजन के लिए अठारह वलय वाला परमेष्ठी मंत्र का चक्रपट दे। फिर एक बार लघुनंदी का पाठ करे, चतुर्विध संघ को वासक्षेप दे। सभी प्रवर्तिनी के सिर पर वासक्षेप एवं अक्षत डालें। तत्पश्चात् गुरु दोहरे आसन पर बैठ अनुज्ञा दे। जैसे - “साध्वियों को वाचना देने की तथा उनके प्रवर्त्तन की मैं अनुज्ञा देता हूँ। धर्म उद्देश देना, साधुओं की उपधि-क्रिया करना और उपधि-ग्रहण करना, साधु-साध्वियों को शिक्षा देना, श्रावक-श्राविकाओं को तप की अनुज्ञा देना - ये सब कार्य, हे वत्स ! तुम्हारे द्वारा करणीय हैं।” आचार्य प्रवर्तिनी को इन कार्यों की आज्ञा प्रदान करते हैं। अब जिन कार्यों का निषेध है, वह बताए जा रहे हैं -

हे साध्वीवर्या ! “साध्वियों को बड़ी दीक्षा देना, उन्हें वंदन करना, कम्बल पर बैठना तथा व्रत की अनुज्ञा देना इत्यादि कार्य तुम्हारी जैसी विनीत साध्वी के लिए वर्जनीय हैं। आचार्य और महत्तरा के वचनों का उल्लंघन मत करना, अर्थात् उनका अपमान मत करना।”

तत्पश्चात् अन्य साध्वियाँ तथा श्रावक-श्राविकाएँ उसको वन्दन करते हैं, किन्तु महत्तरापद आरोपण-विधि की तरह श्राविकाएँ प्रवर्तिनी को द्वादशावर्त्तवन्दन नहीं करती हैं।

आचार्य श्रीवर्द्धमानसूरि विरचित “आचारदिनकर” में यतिधर्म के उत्तरायण में प्रवर्तिनी पदस्थापना कीर्तन नामक यह अट्ठाईसवाँ उदय समाप्त होता है।

-----००-----

// उन्तीसवाँ उदय //

महत्तरापदस्थापना-विधि

महत्तरा पद के अयोग्य साध्वी के लक्षण बताते हुए कहा गया है -

“कुरूपा, विकलांग, हीन कुल में उत्पन्न, मूर्ख, दुष्ट, दुराचारिणी, रोगी, कठोर बोलने वाली, साध्वाचार से अनभिज्ञ, अशुभ मुहूर्त में उत्पन्न, खराब लक्षणों वाली, आचार से रहित, अर्थात् चारित्र से भ्रष्ट साध्वी महत्तरा पद के लिए उपयुक्त नहीं है।”

महत्तरापद के योग्य साध्वी के लक्षण बताते हुए कहा गया है-

“सिद्धान्त को जानने वाली, शान्तचित्त वाली, कृतयोगिनी, उत्तमकुल वाली, चौंसठ कलाओं की जानकार, सभी विद्याओं में प्रवीण, प्रमाण, लक्षण आदि का ज्ञान रखने वाली, मधुरभाषिणी, उदार, शुद्ध शील वाली, पाँचों इन्द्रियों को जीतने वाली, धर्मोपदेश में निपुण, लब्धि, तत्त्वज्ञा, बुद्धिशालिनी, गच्छ के प्रति अनुराग रखने वाली, नीति में निपुण, सद्गुणों से युक्त, विहार आदि करने में समर्थ, पंचाचार का पालन करने वाली - इस प्रकार की साध्वी महत्तरा पद के योग्य होती है।” ये महत्तरापद को धारण करने वाली साध्वी के लक्षण हैं। इस पद के प्रदान के समय भी शुभ नक्षत्र, तिथि, वार एवं लग्न आदि आचार्य पदस्थापना-विधि के समान ही देखे जाते हैं। इस अवसर पर अमारिघोषणा, वेदी बनाना, ज्वारारोपण, आरती आदि क्रियाएँ भी आचार्य पदस्थापन-विधि के समान ही श्रावकों द्वारा की जाती है। संघपूजा, महोत्सव आदि सभी कार्य भी आचार्य पदस्थापना-विधि के सदृश ही किए जाते हैं। प्रवर्तिनीपद के योग्य लोच की हुई साध्वी लग्न-दिन के आने पर प्रभातकाल का ग्रहण करे और स्वाध्याय की प्रस्थापना करे। तत्पश्चात् वह साध्वी चैत्य में या उपाश्रय में समवसरण की तीन प्रदक्षिणा दे। फिर व्रतिनी गुरु के समक्ष खमासमणासूत्रपूर्वक वन्दन करके कहे - “हे भगवन् ! आपकी इच्छा हो, तो आप मुझे चंदना आदि पूर्व आर्याओं द्वारा सेवित महत्तरापद की अनुज्ञा हेतु नंदीक्रिया करने के

लिए वासक्षेप करे एवं चैत्यवंदन कराएं।“ तत्पश्चात् गुरु (आचार्य) और वह साध्वी वर्द्धमान- स्तुतियों द्वारा चैत्यवंदन करे। भावी महत्तरा गुरु के बाईं तरफ बैठती है। श्रुतदेवता, शान्तिदेवता आदि का कायोत्सर्ग करना एवं स्तुति बोलना आदि सब कार्य पूर्व वर्णित आचार्य पद-विधि की भाँति ही करे। पुनः शक्रस्तव एवं अर्हणादिस्तोत्र बोले। फिर “महत्तरा पद के अनुज्ञार्थ मैं कायोत्सर्ग करती हूँ” - ऐसा कहकर अन्नत्थसूत्र बोलकर कायोत्सर्ग करे। कायोत्सर्ग में चतुर्विंशतिस्तव का चिन्तन करे तथा कायोत्सर्ग पूर्ण करके प्रकट में चतुर्विंशतिस्तव बोले। यह क्रिया गुरु और महत्तरा - दोनों करते हैं। तत्पश्चात् सीधे खड़े होकर गुरु तीन बार नमस्कार मंत्र बोलकर लघुनंदी का पाठ बोलते हैं। उसके बाद- “इसे पुनः पढ़ाने के लिए अमुक महत्तरा की अनुज्ञा नंदी होती है” - यह कहकर गुरु महत्तरा के सिर पर वासक्षेप डाले। फिर गुरु बैठकर पाँच मुद्राओं - परमेष्ठीमुद्रा, सौभाग्यमुद्रा, गरुड़मुद्रा, मुद्गरमुद्रा एवं कामधेनुमुद्रा से वासक्षेप (गन्धचूर्ण) को अभिमंत्रित करे तथा संघ को वासक्षेप दे। तत्पश्चात् महत्तरा खमासमणासूत्र से वंदन करके कहे- “आपकी इच्छा हो, तो आप मुझे महत्तरापद की अनुज्ञा दें।“ गुरु कहे - “मैं अनुज्ञा देता हूँ।“ तत्पश्चात् खमासमणासूत्रपूर्वक छः बार वंदन करना आदि सब क्रियाएँ पूर्ववत् ही करे। यहाँ इतना विशेष है कि पाँचवीं बार खमासमणासूत्रपूर्वक वंदन करके महत्तरा समवसरण की तीन प्रदक्षिणा दे। फिर छठवीं बार खमासमणासूत्रपूर्वक वंदन करके - “आपकी अनुज्ञा से आपके द्वारा जो प्रवेदित किया गया है, उसको साधु-साध्वियों को बताने के लिए तथा महत्तरापद की अनुज्ञा के लिए मैं कायोत्सर्ग करती हूँ” - ऐसा कहकर अन्नत्थसूत्र बोलकर कायोत्सर्ग करे। कायोत्सर्ग में चतुर्विंशतिस्तव का चिन्तन करे तथा कायोत्सर्ग पूर्ण करके प्रकट रूप में चतुर्विंशतिस्तव बोलें। लग्न-वेला के आने पर गुरु (आचार्य) महत्तरा के कन्धे पर कम्बली रखे और उसके हाथ में आसन दे। तत्पश्चात् उसी लग्न-वेला में गुरु गन्ध, पुष्प एवं अक्षत द्वारा पूजित महत्तरा के दाएँ कान में परम्परागत संपूर्ण वर्द्धमानविद्या तीन बार बोले और चौथी बार पूजा के लिए वर्द्धमान विद्यापट दे तथा “अमुक साध्वी को महत्तरापद प्रदान किया गया” - यह कहकर

नामकरण करे। फिर “आर्यचंदनबाला एवं मृगावती के सदृश बनें”- ऐसा आशीर्वाद तथा आवश्यक निर्देश दे। वह निर्देश इस प्रकार है - हे वत्सा ! साध्वियों को दीक्षा देना, गृहस्थों को व्रतों की अनुज्ञा देना, साधु एवं साध्वियों को अनुशासित करने, श्राविका वर्ग द्वारा द्वादशावर्त्तसहित वंदन करवाने इत्यादि कार्य समय पर यथाविधि तुम कर सकती हो, परन्तु तुम्हें मुनिदीक्षा देने एवं प्रतिष्ठा कराने की अनुज्ञा नहीं है।” इस प्रकार गुरु द्वारा अनुशासित महत्तरा गुरु को वंदन करके गुरु से आयम्बिल के प्रत्याख्यान ले। तत्पश्चात् साध्वियाँ श्रावक एवं श्राविका वर्ग महत्तरा को वंदन करते हैं। श्राविकाएँ द्वादशावर्त्तपूर्वक वन्दन करती हैं। अन्त में महत्तरा धर्मोपदेश देती है।

अन्य सभी गच्छों में तो पूर्व में दीक्षित अधिक संयम पर्याय वाली अथवा वृद्धा साध्वियों को ही महत्तरापद देते हैं, परन्तु हमारे (ग्रन्थकार के) गच्छ में तो कम दीक्षा पर्याय और तरुणावस्था वाली साध्वी को भी महत्तरापद देने की परम्परा है। महत्तरा साध्वियों को प्रवर्तिनीपद प्रदान कर सकती है, परन्तु महत्तरापद प्रदान नहीं कर सकती है। पूर्व के उदय में कही गई विधि के अनुसार प्रवर्तिनीपद के समय भी कंधे पर कम्बली डालना, आसन देना, वर्द्धमानविद्या एवं उसका पटदान करना - ये सब कार्य महत्तरा के लिए वर्जनीय है, ये सभी कार्य आचार्य ही करते हैं।

आचार्य वर्द्धमानसूरिविरचित “आचारदिनकर” में यतिधर्म के उत्तरायण में महत्तरा पदस्थापना कीर्तन नामक यह उनतीसवाँ उदय समाप्त होता है।



// तीसवाँ उदय //

अहोरात्रिचर्या विधि

इस प्रकरण में साधु और साध्वियों की दिनरात की चर्या का वर्णन है। साधु-साध्वी वर्ग की यह चर्या धर्मोपकरण के बिना नहीं होती है, इसलिए उपकरणों की संख्या एवं परिमाण- विधि भी बताई जा रही है। इसमें जिनकल्पी, स्थविरकल्पी और साध्वियों के उपकरणों की चर्या की गई है। पुस्तक, स्याही की दवात, लेखनी (कलम), पट्टिका (स्लेट), पुस्तकबन्ध, मोरपिच्छी, प्रमार्जनी आदि ज्ञानोपकरण कहे जाते हैं। इनसे संयतियों के निष्परिग्रहव्रत का उपघात नहीं होता है। चाकू, सुई, कैंची, सिलबट्टा, डोरी, कंघी, काष्ठ के पात्र, काष्ठ के पाट, चौकी देवसरोपकारी आदि वस्तुएँ, साधुओं के उपकरण रचना के साधन, वसति निर्वाह के साधन, पुस्तक आदि ज्ञान के साधनरूप उपकरण तथा साधुओं के उपकरण - ये सभी साधु-साध्वियों के परिग्रह विरमण महाव्रत के भंग का हेतु नहीं है। ये उपकरण तो शरीर से प्रतिबद्ध साधु के संयम निर्वाह के लिए कहे गए हैं।

जिनकल्पी के उपकरणों की संख्या बारह बताई गई है, वे इस प्रकार हैं - १. पात्र, २. पात्रबंध ३. गुच्छक ४. पूँजणी ५. पड़ला ६. रजस्त्रण एवं ७. पात्रस्थापन - ये सात उपधि पात्र सम्बन्धी हैं। इनमें तीन वस्त्र, रजोहरण एवं मुंहपत्ति मिलाने से जिनकल्पियों की बारह प्रकार की उपधि होती हैं। जिनकल्पी के दो भेद हैं - करपात्री एवं पात्रधारी। दोनों के पुनः दो-दो भेद हैं - वस्त्रधारी और वस्त्ररहित। जिनकल्पियों की उपधि के दो, तीन, चार, पाँच, नौ, दस, ग्यारह और बारह - ये आठ विकल्प होते हैं। मुंहपत्ति और रजोहरण - ये दो उपधि अचेल जिनकल्पी के लिए भी अनिवार्य है। एक वस्त्र युक्त होने पर तीन उपकरण होते हैं। दो वस्त्र रखने पर चार उपकरण होते हैं। तीन वस्त्र ग्रहण करने पर पाँच उपकरण होते हैं। दो, तीन, चार और पाँच प्रकार की उपधि को सप्तविध पात्र सम्बन्धी उपकरणों के साथ जोड़ने पर जिनकल्पी के क्रमशः नौ, दस, ग्यारह और बारह उपकरण होते हैं। वस्त्ररहित

पाणीपात्र जिनकल्पियों की अपेक्षा से दो उपकरण, अर्थात् मुंहपत्ति एवं रजोहरण या वस्त्ररहित किन्तु पात्र भोजी जिनकल्पियों के नव उपकरण मुंहपत्ति, रजोहरण तथा सप्तविध पात्र नियोग होते हैं। जिनकल्प को स्वीकार करने वाली आत्मा प्रथमतः तप, सूत्र (योग्य ज्ञानाभ्यास), सत्त्व, एकत्व और बल - इन पाँच कसौटियों पर स्वयं को कसने के पश्चात् जिनकल्प को स्वीकार करे।

स्थविर कल्पी के उपकरण इस प्रकार हैं -

मुंहपत्ति, रजोहरण, तीन वस्त्र (कल्प) और सप्तविध पात्र नियोग - इन बारह उपकरणों के साथ मात्रक और चोलपट्टा (अधोवस्त्र) इन दो उपकरणों को मिलाने पर चौदह प्रकार की उपधि स्थविरकल्पी की होती है। वह इस प्रकार हैं - १. पात्र २. पात्रबंध ३. गुच्छ ४. पूंजणी ५. पटल (पड़ला) ६. रजस्राण ७. पात्रस्थापन - ये सात पात्र सम्बन्धी उपधि तथा तीन वस्त्र, रजोहरण, मुंहपत्ति - इन बारह उपकरणों के साथ तेरहवाँ उपकरण मात्रक और चौदहवाँ उपकरण चोलपट्टा (अधोवस्त्र) - यह साधुओं के उपकरण की संख्या है। उपधि का परिमाण इस प्रकार है :-

तीन बेंत और चार अंगुल परिधि वाला पात्र मध्यम परिमाण वाला होता है। इससे न्यून जघन्य परिमाण वाला तथा इससे अधिक पात्र उत्कृष्ट परिमाण वाला होता है। झोली का परिमाण पात्र के अनुसार होता है। जैसे - झोली की गाँठ लगा देने के पश्चात् उसके छोर चार अंगुल लटकते रहने चाहिए। पात्र स्थापनक, गुच्छे एवं पूंजणी का परिमाण एक बेंत चार अंगुल है। सामान्यतः ढाई हाथ लंबे और छत्तीस अंगुल चौड़े पड़ले होते हैं, अथवा पड़लों का परिमाण पात्र एवं अपने शरीर के अनुसार होता है। ग्रीष्म, हेमन्त और वर्षा-ऋतु में जीवों की रक्षा के लिए केले के गर्भ के समान उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य संख्या वाले पड़ले अवश्य रखने चाहिए। ग्रीष्म-ऋतु में तीन-चार-पाँच, हेमन्त-ऋतु में चार-पाँच-छः तथा वर्षा-ऋतु में पाँच-छः-सात पड़ले होते हैं। पड़ले मोटे और स्निग्ध होने चाहिए।

रजस्राण का परिमाण पात्र के परिमाण के अनुसार होता है। पात्रों को रजस्राण से प्रदक्षिणाकार में लपेटने पर रजस्राण चार अंगुल

बड़ा रहे, इस प्रकार का होना चाहिए। चदर शरीर परिमाण होती है, अर्थात् साढ़े तीन हाथ लंबी एवं ढाई हाथ चौड़ी होती है। चदर दो सूत की एवं एक ऊन की होती है। रजोहरण बत्तीस अंगुल परिमाण होता है। सामान्यतः दंडी चौबीस अंगुल की तथा फलियाँ आठ अंगुल की होती हैं, अथवा दंडी और फलियाँ पूर्वोक्त परिमाण से न्यूनाधिक भी हो सकती हैं, पर ओषे का कुल माप बत्तीस अंगुल का ही होना चाहिए। मुहपत्ति का परिमाण एक बेंत चार अंगुल का है। किसी का मत है कि मुहपत्ति मुख के अनुसार होनी चाहिए।

मगध देश सम्बन्धी प्रस्थ के परिमाण से मात्रक कुछ बड़ा होता है। मात्रक वर्षाकाल और शीतोष्णकाल - दोनों में ही आचार्य आदि के लिए द्रव्यग्रहण करने में उपयोगी होता है, अथवा दो कोस चलकर आया हुआ मुनि जितने दाल-भात एक स्थान में बैठकर उपयोग कर सकता है, उतने परिमाण वाला मात्रक होता है।

चोलपट्टा दो हाथ या चार हाथ परिमाण वाला, समचौरस होता है। कपड़े की दृष्टि से पतला और मोटा दोनों होता है। ये भेद वृद्धमुनि और युवामुनि की अपेक्षा से समझना चाहिए। संस्तारक और उत्तरपट्ट - दोनों ढाई हाथ लंबे और एक हाथ चार अंगुल चौड़े होते हैं।

उपकरणों की उपयोगिता :- वस्तु लेने, उठाने, खड़े रहने, बैठने, करवट बदलने, पाँव फैलाने या एकत्रित करने से पूर्व वस्तु या स्थान की प्रमार्जना करने के लिए रजोहरण उपयोगी है तथा भागवतीदीक्षा का प्रतीक होने से आवश्यक है।

संपातिम जीवों की रक्षा के लिए तथा सचित्त रज की प्रमार्जना के लिए मुंहपत्ति आवश्यक है। वसति-प्रमार्जन करते समय साधु मुंहपत्ति से नाक एवं मुख बाँधते हैं। छः काय के जीवों की रक्षा के लिए पात्र रखने की जिनाज्ञा है। एक मंडली में भोजन करने के जो गुण हैं, वे गुण पात्र रखने में भी हैं, अर्थात् पात्र रखने से ही अन्य मुनियों के लिए गोचरी आदि लाई जा सकती है।

तृणग्रहण और आग के उपयोग से बचने के लिए, धर्म-शुक्लध्यान में स्थिर रहने के लिए, रोगी की समाधि के लिए तथा मृतक को ढंकने के लिए वस्त्र-ग्रहण आवश्यक है। विकृत, वायुग्रस्त

एवं दीर्घ लिंग को ढंकने के लिए तथा वेदोदय की स्थिति में लज्जा बचाने के लिए चोलपट्टे का उपयोग करने की जिनाज्ञा है।

अब प्रत्येकबुद्ध एवं स्वयंबुद्ध मुनियों के उपकरण बताए जा रहे हैं -

जिनकल्पी और स्थविरकल्पी मुनियों के अतिरिक्त भी दो प्रकार के मुनि हैं - १. स्वयंबुद्ध और २. प्रत्येकबुद्ध।

स्वयंबुद्ध के भी दो भेद हैं - १. तीर्थंकर और २. तीर्थंकरभिन्न (सामान्य)।

तीर्थंकरभिन्न स्वयंबुद्ध, प्रत्येकबुद्धों की अपेक्षा बोधि, उपधि, ज्ञान और लिंग से अलग होते हैं। स्वयंबुद्ध को बोधि (धर्म की प्राप्ति) जातिस्मरण आदि आन्तरिक भावों से होती है। उनके बारह प्रकार की उपधि होती है - १. मुहपत्ति २. रजोहरण ३-४-५. कल्पत्रिक और ६-१२ सात प्रकार का पात्रनियोग। स्वयंबुद्ध को श्रुतज्ञान पूर्वजन्म-सम्बन्धी तथा इस जन्म-सम्बन्धी दोनों ही होते हैं। पूर्वाधीन श्रुतवाले स्वयंसंबुद्धों को वेशार्पण देव करते हैं, या वे स्वयं गुरु के पास जाकर वेश ग्रहण करते हैं, परन्तु जिन्हें पूर्वाधीन श्रुतज्ञान नहीं होता, उन्हें तो गुरु ही वेश देते हैं। स्वयंबुद्ध मुनि यदि एकाकी विहार करने में समर्थ है और उसकी इच्छा भी ऐसी है, तो वह एकाकी विचरण कर सकता है। यदि एकाकी विचरण करने में असमर्थ है और ऐसी इच्छा भी नहीं है, तो गच्छ में रह सकता है।

प्रत्येकबुद्धों को धर्म की प्राप्ति बैल आदि निमित्तों को देखकर होती है। उनकी जघन्यउपधि मुंहपत्ति एवं रजोहरण है तथा उत्कृष्टउपधि मुंहपत्ति, रजोहरण और सप्तविध पात्रनियोग है। उनका श्रुतज्ञान पूर्वभव सम्बन्धी ही होता है। वह जघन्य से ग्यारह अंग का तथा उत्कृष्ट से किंचित् न्यून दसपूर्व का होता है। इनको वेशार्पण देव द्वारा ही होता है। कदाचित् ये लिंगरहित भी होते हैं। प्रत्येकबुद्ध एकाकी ही विचरण करते हैं, गच्छ में नहीं जाते हैं।

साध्वियों के उपकरण - चोलपट्टेरहित और कमढ़क (तुंबा) सहित पूर्वोक्त चौदह उपकरण साध्वियों के भी होते हैं। इनके अतिरिक्त कुछ और भी उपकरण साध्वियों के होते हैं।

साधियों के अन्य उपकरण - १. अवग्रहानन्तक २. पट्टक
३. अर्धोरुक ४. चलनिका ५. अभ्यंतरनिर्वसनी ६. बहिर्निर्वसनी
७. कंचुक ८. उपकक्षिका ९. वैकक्षिका १०. संघाटी एवं ११.
स्कंधकरणी - इस प्रकार कुल मिलाकर साधियों के २५ उपकरण हैं।

साधियों के उपकरणों की उपयोगिता निम्न कारण से है -

गुप्तांग की रक्षा हेतु नौका के आकारवाला, शरीर-परिमाण वस्त्र अवग्रहानन्तक कहलाता है। इसका वस्त्र मोटा व कोमल होना चाहिए। चार अंगुल चौड़ा, कमर-परिमाण वस्त्र पट्टक है। अवग्रहानन्तक के दोनों छोरों को ढंकने के लिए यह आवश्यक है। अवग्रहानन्तक एवं कमरपट्ट बाँधने के पश्चात् मल्ल के कच्चे की तरह दिखाई देते हैं।

अवग्रहानन्तक एवं कमरपट्ट सहित कटिभाग को ढंकनेवाला जंघा तक लंबा वस्त्र अर्धोरुक है। ऐसा ही बिना सिला हुआ घुटनों तक का वस्त्र चलनिका कहलाता है। यह वस्त्र नर्तकी के लहंगे जैसा झोता है। कमर से लेकर पैर की पिंडली तक लंबा व नीचे से कसा हुआ वस्त्र अन्तर्निर्वसनी है। ऐसे ही वस्त्र पर टखनों तक लंबा एवं नीचे से खुला और कटिभाग में डोरे से बँधा हुआ वस्त्र बहिर्निर्वसनी है।

बिना सिला हुआ, शिथिल तथा स्तनों को ढंकने वाला कंचुक है। इसी तरह दाहिनी ओर पहना जाने वाला वस्त्र उपकक्षिका है। पट्ट, कंचुक एवं उपकक्षिका को ढंकने वाला वस्त्र वैकक्षिका है। संघाटिका (चादर) के चार भेद हैं। उपाश्रय में ओढ़ने की एक हाथ की एक चादर, तीन हाथ की दो चादर होती हैं, जो गोचरी जाते समय तथा स्थंडिलभूमि जाते समय ओढ़ी जाती है। चौथी चार हाथ की चादर समवसरण आदि में जाते समय ओढ़ी जाती है, क्योंकि समवसरण में साधियों को बैठना नहीं होता है। चादर कोमल वस्त्र की बनी हुई होनी चाहिए।

स्कंधकरणी चार हाथ विस्तृत होती है। यह वायुजन्य पीड़ा से रक्षा करने में उपयोगी है, साथ ही रूपवती की शीलरक्षा के लिए उसे कुब्जा दिखाने में भी यह उपयोगी है, अतः इसे खुब्जकरणी भी कहते हैं।

“पत्तं इत्यादि” - इस श्लोक से पात्र का तात्पर्य अशन-पान को ग्रहण करने, रखने एवं आहार करने के योग्य पात्र से है। पात्र तीन प्रकार के होते हैं - काष्ठ के, तुम्बी के एवं मिट्टी के। स्वर्ण, वाँदी, मणि, ताम्र, कांस्य, लोहा, हाथीदाँत एवं चर्म के पात्र साधु-साध्वियों के लिए ग्राह्य नहीं होते हैं। जैसा कि आगम में कहा गया है -

“जो कांसे के प्याले, कांसे के पात्र और कुण्डभेद (कांसे के बने कुण्डाकार बर्तन) में आहार-पानी लेता है और खाता है, वह श्रमणाचार से भ्रष्ट होता है। बर्तनों को सचित्त जल से धोने में और धोए हुए पानी को डालने में प्राणियों की हिंसा होती है। इस कार्य में तीर्थंकरों ने असंयम बताया है। गृहस्थ के बर्तन में भोजन करने से ‘पश्चात्कर्म और पुरःकर्म’ की सम्भावना रहती है”, इसलिए गृहीपात्र में भोजन करना निर्ग्रन्थ के लिए कल्याण नहीं है। “अलाबु पात्र” के कथन में नारियल के पात्र को भी अन्तर्निहित किया गया है।

पात्रबन्ध - पात्र बांधने की झोली को पात्रबन्ध कहते हैं।

पात्रस्थापन - मुनि जिस झोली में पात्र रखकर भिक्षाटन करते हैं, उसे पात्र स्थापन कहा जाता है।

पात्र केशरिका (पूँजणी) - यह पात्र के प्रतिलेखन हेतु अनिवार्य है।

पटल (पड़ला) - वस्त्र से निर्मित पड़ला, जो पात्रों को ढकने के लिए होता है, इसे हाथ के ऊपर डाला जाता है।

रजसाण - पात्रों को वेष्टित करने वाला वस्त्र।

गुच्छक - पात्रबन्ध को नीचे और ऊपर से ढकने के लिए ऊन से निर्मित वस्त्र को गुच्छक कहते हैं। इसे “प्रतिष्ठानम्” भी कहते हैं। नीचे का गुच्छक पृथ्वी, आकाश एवं वनस्पति के संघट्ट (संस्पर्शन) का निवारण करने के लिए एवं ऊपर का गुच्छक आतप के निवारण के लिए होता है।

पात्र-निर्योग - गुच्छक बाँधने एवं तर्पणी बाँधने के लिए डोरी आदि उपकरण पात्र-निर्योग (उपधि), अर्थात् पात्र-सम्बन्धी उपकरण के अन्तर्गत समाहित हैं।

तीन उत्तरीय वस्त्रों में से दो चादर (सूती) एवं तीसरी ऊनी कामली होती है। रजोहरण को धर्मध्वज एवं मुख को आच्छादित करने वाले वस्त्र को मुखवस्त्रिका कहते हैं।

इस प्रकार जिनकल्पी साधुओं की उपधि बारह प्रकार की होती है। यह जिनकल्पी के उपकरण बताए गए हैं।

“जिण कप्पिया” गाथा के अनुसार जिनकल्पी भी दो प्रकार के होते हैं - पाणिपात्र (हाथ में भिक्षा ग्रहण करने वाले) और पात्रधर (पात्र में भिक्षा ग्रहण करने वाले)। इन दोनों के भी दो-दो भेद हैं। पाणिपात्र दो प्रकार होते हैं - १. वस्त्रधारी और २. निर्वस्त्र। पाणिपात्र के दो या तीन उपकरण होते हैं। पाणिपात्र निर्वस्त्र जिनकल्पियों के दो उपकरण तथा पाणिपात्र वस्त्रधारी जिनकल्पियों के तीन उपकरण होते हैं। पात्रधर निर्वस्त्र जिनकल्पियों के उपकरण नौ या दस प्रकार के होते हैं। वस्त्रधारी पात्रधर जिनकल्पी की उपधि ग्यारह या बारह प्रकार की होती हैं। जिनकल्पी में भी उपधि के आठ विकल्प होते हैं।

- “पुत्तीअय” गाथा के अनुसार वे आठ विकल्प इस प्रकार हैं-
१. मुखवस्त्रिका और रजोहरण - ऐसी दो प्रकार की उपधि होती है।
 २. मुखवस्त्रिका और रजोहरण के साथ एक वस्त्र रखने पर तीन प्रकार की उपधि होती है।
 ३. प्रथम दो उपधि के साथ दो वस्त्र रखने पर चार प्रकार की उपधि होती है।
 ४. प्रथम दो उपधि के साथ तीन वस्त्र रखने पर पाँच प्रकार की उपधि होती है।
 ५. प्रथम दो उपधि के साथ सात प्रकार के पात्र-निर्योग (उपधि) रखने पर नौ प्रकार की उपधि होती है।
 ६. मुखवस्त्रिका, रजोहरण तथा एक वस्त्ररूप तीन प्रकार की उपधि के साथ सात प्रकार के पात्र-निर्योग (उपधि) रखने पर दस प्रकार की उपधि होती है।

७. मुखवस्त्रिका, रजोहरण एवं दो वस्त्ररूप - ऐसी चार प्रकार की उपधि के साथ सात प्रकार के पात्र-नियोग (उपधि) रखने पर ग्यारह प्रकार की उपधि होती है।
८. मुखवस्त्रिका, रजोहरण एवं तीन वस्त्र रूप पाँच प्रकार की उपधि के साथ सात प्रकार के पात्र-नियोग (उपधि) के रखने पर बारह प्रकार की उपधि होती है।

उपकरण-सम्बन्धी प्रथम चार विकल्प निर्वस्त्र एवं वस्त्रधारी पाणिपात्र जिनकल्पी के होते हैं। इसके बाद के उपकरण सम्बन्धी चार विकल्प निर्वस्त्र एवं वस्त्रधारी पात्रधर जिनकल्पी के होते हैं। विशुद्ध जिनकल्पी के उपकरण दो प्रकार के होते हैं। पाणिपात्र (निर्वस्त्र) जिनकल्पी के रजोहरण और मुखवस्त्रिका रूप दो ही उपकरण होते हैं। पात्रधर (निर्वस्त्र) जिनकल्पी के मुखवस्त्रिका एवं रजोहरण सहित सात प्रकार के पात्र-नियोग - ऐसे नौ प्रकार के उपकरण होते हैं। इस प्रकार उपकरण के ये दो विकल्प (दो एवं नौ) विशुद्ध जिनकल्पी के हैं। तीन कल्प, अर्थात् वस्त्रों को धारण करने पर जिनकल्पी जिनकल्प का विशुद्ध रूप से पालन नहीं करता है, अर्थात् वह अविशुद्ध जिनकल्पी होता है।

“तवेण” गाथा के अनुसार जिनकल्प का परीक्षण पाँच प्रकार से होता है -

१. तप से २. सूत्र से ३. सत्त्व से ४. एकत्व से एवं ५. बल से।

तप - जिनकल्प में इन्द्रियाँ ग्लान न बनें, इस प्रकार से आहार-पानी के बिना छः मास तक तप कर सके।

सूत्र - सूत्रसहित, अर्थसहित, ग्रन्थसहित, अंगसहित, भेदसहित, उपांगसहित, निर्युक्तसहित, संग्रहणीसहित, व्याकरणसहित, निरुक्तसहित, परमार्थसहित, हेतुसहित, दृष्टान्तसहित द्वादशांगीसूत्र का पाठ कर सके - यह सूत्र से परीक्षण है।

सत्त्व - वज्रपात की स्थिति में भी अप्रकम्प रह सके। इन्द्र के उत्तरवैक्रिय में तथा इसी प्रकार की अन्य सभी ऋद्धियों में भी लोभायमान न हो, रम्भा आदि अप्सराओं का दर्शन होने पर भी काम-वासना की इच्छा न करे। छः मास के उपवास होने पर नानाविध रस का लाभ, अर्थात् प्राप्ति होने पर भी उसकी अभिलाषा न करे।

एकत्व - एकत्व द्वारा सर्वइन्द्र, चक्री, अर्द्धचक्री (वासुदेव) का बल देखने पर भी किसी प्रकार की कोई अपेक्षा न करे और न ही दुष्ट देवता, जंगली जानवर द्वारा उपसर्ग होने पर दूसरे किसी व्यक्ति को देखकर रक्षा की अभिलाषा करे और न ही रोग आदि द्वारा पीड़ित होने पर भी शुश्रूषा की कामना करे। किसी भी जिनकल्पी को अपने स्वयं के सदृश किसी अन्य जिनकल्पी को अपने पास रखना नहीं कल्पता, तो फिर अन्य की तो बात ही क्या ?

बल - मदोन्मत्त हाथी, क्रूर सिंह आदि तथा चक्रवर्ती की सेना भी यदि सामने आ जाए, तो प्राणनाश के भय के कारण मार्ग से च्युत न हो, अर्थात् उनको मार्ग न दे।

इस प्रकार जिनकल्प को ग्रहण करते समय ये पाँच प्रकार की कसौटी की जाती हैं। यह जिनकल्पियों के उपकरण एवं चर्या की विधि है। स्थविर कल्पियों के बारह उपकरण पूर्व में कहे गए अनुसार ही हैं।

“पत्तं” गाथा के अनुसार -

१. पात्र २. पात्रबन्ध ३. पात्रस्थापन ४. पात्रकेशरिका
५. पटल (पड़ला) ६. रजस्राण ७. गुच्छक - ये सात प्रकार की पात्र सम्बन्धी उपधि हैं। तीन कल्प (वस्त्र), अर्थात् दो सूती चादर एवं एक ऊनी वस्त्र, रजोहरण एवं मुखवस्त्रिका - इन बारह उपकरणों के साथ मात्रक और चोलपट्टा - इन दो उपकरणों को मिलाने पर स्थविरकल्पी की चौदह प्रकार की उपधि होती है। इस प्रकार यह स्थविर जिनकल्पियों के उपकरण की संख्या बताई गई है। उपकरण का परिमाण इस प्रकार है - स्वभाविक रूप से मध्य परिमाण का पात्र

तीन बेंत और चार अंगुल परिमाण की परिधि वाला होना चाहिए। इससे कम परिमाण वाला पात्र जघन्य एवं इससे अधिक परिमाण वाला पात्र उत्कृष्ट कहा जाता है। यह लकड़ी के पात्र का परिमाण है। नारियल एवं तुम्बी से निर्मित तिर्पणी, कटाहक आदि पात्रों का परिमाण, उसकी प्राप्ति, योग्यता एवं प्रयोजन पर निर्भर है, अर्थात् वे जैसे मिलते हों, जैसी आवश्यकता हो और जैसा उनका प्रयोजन हो, उस पर उनका परिमाण निर्भर करता है। मिट्टी के पात्रों में यथा घड़े एवं कुण्डे आदि का परिमाण भी साधु की संख्या पर एवं आहार और पानी की गवेषणा की मात्रा पर निर्भर करता है, किन्तु यति के सभी पात्रों में दृष्टि प्रतिलेखना द्वारा शुद्धि की जा सके, इस प्रकार का उसका संस्थान एवं परिमाण होना चाहिए। जैसा कि उक्त आगम में कहा गया है - “जिस पात्र में हाथ जा सके एवं चारों तरफ दृष्टि जा सके, वह पात्र मुनि के लिए निश्चित रूप से योग्य है, शेष सभी पात्र अयोग्य हैं। पात्रों की प्रतिलेखना सम्यक् प्रकार से हो सके, इसलिए पात्र बारह अंगुल बाहर एवं बारह अंगुल अन्दर हो - इस परिमाण का होना चाहिए, किन्तु अन्दर हाथ डालने वाला पात्र पच्चीस अंगुल परिमाण का होना चाहिए।”

पात्रबंध का परिमाण पात्र के परिमाण से अधिक होना चाहिए, अर्थात् पात्र बाँधने पर उसके चार अंगुल छोर लटकते रहें। पात्र स्थापनक, गुच्छक और पात्र प्रतिलेखन करने की पूंजणी - इन तीनों का परिमाण एक बेंत चार अंगुल होता है। पात्र स्थापनक में पात्र रखने के बाद हाथ में डालने हेतु एवं गांठ देने के लिए एक बेंत चार अंगुल का परिमाण आवश्यक है। इसी प्रकार गुच्छक का परिमाण एक बेंत चार अंगुल का होना आवश्यक है। पात्र प्रतिलेखनी, अर्थात् पूंजणी में एक बेंत की डण्डी एवं चार अंगुल की दसियाँ होती हैं। पटल (पड़ला) ढाई हाथ लम्बा और छत्तीस अंगुल चौड़ा एवं केले के गर्भ के समान, अर्थात् सफेद, मोटा, कोमल, मजबूत एवं स्निग्ध होना चाहिए। पुनः उसका परिमाण यति के शरीर एवं पात्रों की मोटाई के अनुसार होता है। प्राणियों की रक्षा के लिए ग्रीष्म, हेमन्त एवं वर्षा ऋतु में पटल उत्कृष्ट, मध्यम एवं जघन्य के भेद से तीन प्रकार के

होते हैं। ग्रीष्म ऋतु में उत्कृष्ट स्वरूप वाले पाँच, मध्यम स्वरूप वाले चार और जघन्य स्वरूप वाले पाँच पटल पर्याप्त होते हैं। वर्षा ऋतु में उत्कृष्ट स्वरूप वाले पाँच, मध्यम स्वरूप वाले छः और जघन्य स्वरूप वाले सात पटल पर्याप्त होते हैं। हेमन्त ऋतु में उत्कृष्ट स्वरूप वाले चार, मध्यम स्वरूप वाले पाँच और जघन्य स्वरूप वाले छः पटल पर्याप्त होते हैं। पटल मजबूत, मोटे और स्निग्ध वस्त्र के होने चाहिए। (यहा उत्कृष्ट स्वरूप का तात्पर्य मजबूत, मोटे और स्निग्ध वस्त्र से निर्मित पटल से है, मध्यम स्वरूप का तात्पर्य कुछ जीर्ण वस्त्र के पटल से है तथा जघन्य स्वरूप का तात्पर्य जीर्ण वस्त्र के पटल से है।)

रजम्राण पात्र के परिमाणानुसार होता है, उससे अधिक परिमाण का नहीं, अर्थात् प्रदक्षिणाकार से पात्रों को वेष्टित करने पर चार अंगुल प्रमाण वस्त्र का छोर लटकता रहे - इस प्रकार का होना चाहिए।

कल्प, अर्थात् ओढ़ने की चादर - साधु के शरीर परिमाण, अर्थात् साढ़े तीन हाथ लम्बी और ढाई हाथ चौड़ी होती है। उनमें से दो चादर सूती और एक ऊनी कामली होती है।

रजोहरण बत्तीस अंगुल परिमाण का होना चाहिए। इसमें चौबीस अंगुल परिमाण का दण्ड एवं आठ अंगुल परिमाण दसियाँ होती हैं। दण्ड या दसियाँ परिमाण में न्यूनाधिक भी हो सकती हैं। मुनि के शरीर परिमाण से, या गच्छाचार के कारण भी इसका परिमाण कम-अधिक होता है। पूर्व में निषद्या कम्बल के खण्डरूप होता था तथा दसियाँ आसन की होती थी, किन्तु वर्तमान में तो प्रसाधन को दृढ़ीभूत करने के लिए तथा धर्मोपकरण को सुन्दर बनाने के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार की ऊन के निषद्या होते हैं। इस हेतु आगम में तो कहा गया है - "जो निज देह को भूषित करता है, वह अनन्त संसारी होता है। जिनधर्म में श्रद्धा रखने वाले साधुओं के लिए तो उपकरण ही भूषण रूप हैं।" रजोहरण में दसी वाला भाग ओढ़कर शेष डण्डी का भाग ऊन के दो निषद्या से आच्छादित होता है। पूरी डण्डी वस्त्र से आच्छादित होने के कारण निरवद्य होती है।

कुछ लोग निषद्या वस्त्र के ऊपर पादप्रोच्छनक भी बांधते हैं। उसे गच्छ में प्रचलित परिमाणानुसार ही बनाना चाहिए। कुछ लोग निषद्या के नीचे ही दसियाँ सीकर बांधते हैं, तो कुछ लोग दसियों के ऊपर और नीचे डोरी से कसकर बांधते हैं - वहाँ भी गच्छाचार के अनुसार ही क्रिया करना चाहिए। नीचे का डोरी दशा के मूल भाग से एक अंगुल ऊपर निषद्या पर बांधना चाहिए। फिर डण्डी सहित निषद्या का दो भाग नीचे की तरफ छोड़कर शेष ऊपर के तीसरे भाग के मध्य में द्वितीय डोरी बाँधना चाहिए।

मुखवस्त्रिका चारों तरफ से एक बेंत चार अंगुल परिमाण की होनी चाहिए। उस वस्त्र की रचना इस प्रकार की जाती है - उस वस्त्र के दो समान भाग करके मोड़ते हैं। फिर उसको दोहरा कर, पुनः उसे तिर्यक् दिशा में मोड़ते हैं, अर्थात् खड़ी तह करते हैं। मुखवस्त्रिका के तह वाले भाग को वामपार्श्व में तथा नीचे की तरफ रखे तथा खुले हुए भाग को दाएँ हाथ की तरफ तथा ऊपर की तरफ रखते हैं।

मुखवस्त्रिका के सम्बन्ध में यहाँ द्वितीय आदेश भी है - मुख परिमाण एवं पृथुल कपोल आदि के कारण भी मुखवस्त्रिका का परिमाण अधिक हो सकता है, इसमें कोई दोष नहीं है। मात्रक का परिमाण मगध देश के प्रस्थ परिमाण वस्तु से कुछ अधिक वस्तु जिसमें समा सके - इतना होना चाहिए। पूर्ण प्रस्थ परिमाण मात्रक द्वारा शेष काल में द्रव्य ग्रहण करते हैं और उससे अधिक परिमाण वाले मात्रक में वर्षाकाल में द्रव्यग्रहण करते हैं। दो कोस चलकर आया हुआ साधु एक स्थान पर बैठकर जितने दाल-भात उपयोग कर सकता है, उतने परिमाण वाला मात्रक होता है।

चोलपट्टा स्थविरो की कमर से दुगुना होना चाहिए और स्थूल उदर वाले मुनियों के कमर से चार गुना परिमाण का होना चाहिए। सूक्ष्म एवं स्थूल, अर्थात् पतले या स्थूल शरीर की अपेक्षा से यह दो विकल्प हैं। चोलपट्टा नाभि के चार अंगुल नीचे और जानु के चार अंगुल ऊपर पहनना चाहिए। संस्तारक और उत्तरपट्टा दोनों ही ढाई हाथ लम्बे और एक हाथ चार अंगुल चौड़े होने चाहिए।

अब साधुओं के उपकरणों की उपयोगिता बताते हैं, वह इस प्रकार है :-

रजोहरण :- वस्तु को लेते या रखते समय, स्थान पर बैठने या सोने से पूर्व प्रमार्जन करने के लिए रजोहरण का उपयोग किया जाता है। यह रजोहरण की उपयोगिता है।

मुखवस्त्रिका - मुखवस्त्रिका का उपयोग निरन्तर सूक्ष्म जीव के निवारण के लिए अर्थात् उनकी रक्षा हेतु तथा त्रस (सचित्त) रज आदि के प्रमार्जन के लिए होता है। मुखवस्त्रिका से मुख आच्छादित होने के कारण नाक और मुँह की गर्म वायु से सूक्ष्म जीवों का नाश नहीं होता है। प्रमार्जन करते समय मुनि उसे कर्ण के सहारे बांधकर नाक और मुँह को ढकें - यह मुखवस्त्रिका की उपयोगिता है।

पात्र - पात्र का ग्रहण भूमिपट्ट एवं वस्त्र आदि के जीवों की रक्षा के लिए एवं भोजन को संलीन अर्थात् गुप्त रखने हेतु किया जाता है। जिस प्रकार संभोग से एक के साथ व्यवहार करने में एक स्थान में ही तल्लीनता होती है, उसी प्रकार पात्र में गृहीत भोज्य आहार-पानी को फैलाकर और पर की उपेक्षा करके एक चित्त से देखा जा सकता है - यह पात्र की उपयोगिता है।

शेष पात्र उपधि - पात्रों की शेष उपधियों का ग्रहण पात्रों की रक्षा के लिए किया जाता है।

कल्प - तीन कल्प (वस्त्रों) का ग्रहण, दावानल, जल, वायु के निवारणार्थ, शुक्लध्यान, धर्मध्यान, ग्लान की समाधि के लिए तथा मृत्यु के समय मृतदेह पर आच्छादन अर्थात् उसे ढंकने के लिए किया जाता है - यह कल्प की उपयोगिता है।

चोलपट्टे का ग्रहण - पुरुष वेदोदय के कारण होने वाले लिंगोत्थान के आवरण हेतु, दीर्घ लिंगियों एवं लिंग रोगियों की लोक लज्जा के निवारणार्थ किया जाता है - यह चोलपट्टे की उपयोगिता है। पात्रक की उपयोगिता पूर्व में कहे गए अनुसार ही है। यहाँ कमठ शब्द का तात्पर्य कुछ लोग चोलपट्टा मानते हैं, तो कुछ लोग संस्तारक अथवा उत्तरपट्ट मानते हैं।

पात्रस्थापन - पात्रस्थापन नामक उपकरण का उपयोग भिक्षाटन के लिए झोलिका के रूप में तथा पात्रों के नीचे प्रतिष्ठान के रूप में बताया गया है - यह उपकरणों की उपयोगिता है।

अब बुद्ध के स्वरूप की व्याख्या करके उनके उपकरणों का वर्णन किया जा रहा है - बुद्ध में एक तो स्वयंबुद्ध होते हैं और दूसरे प्रत्येकबुद्ध। स्वयंबुद्ध दो प्रकार के होते हैं - १. अरिहंत और २. किन्हीं निमित्तों द्वारा स्वयं बोधि को प्राप्त सामान्य मुनि। अरिहंत को चोलपट्टा, उत्तरीय आदि मुनिवेश, पात्र एवं शास्त्र आदि उपधि नहीं होती है, परन्तु स्वयंबुद्ध सामान्य मुनि को उपधि, श्रुत मुनिवेश (लिंग) आदि होते हैं। उन्हें पूर्व जन्म के स्मरण से बोधि की प्राप्ति होती है। उनकी उपधि बारह प्रकार की होती है - मुखवस्त्रिका, रजोहरण, कल्प (तीन वस्त्र), सात प्रकार की पात्र की उपधि - इस प्रकार स्वयंबुद्ध साधुओं की उपधि बारह प्रकार की होती है। उनका श्रुतज्ञान पूर्वाधीत और इस जन्म-सम्बन्धी दोनों ही प्रकार का होता है। पूर्वाधीत श्रुत वाले बुद्धों को लिंग (रजोहरण) आदि देवता अर्पण करते हैं, या वे स्वयं गुरु के पास जाकर वेश ग्रहण करते हैं तथा जिनको उसी भव में श्रुत अधीत होता है, उनको गुरु ही वेश प्रदान करते हैं। स्वयंबुद्ध मुनि की इच्छा हो, तो वे गच्छ में रह सकते हैं, अन्यथा एकाकी विहार कर सकते हैं।

अब प्रत्येकबुद्ध साधु के सम्बन्ध में विवेचन है - इस अवसर्पिणी काल में चार प्रत्येकबुद्ध हुए हैं - १. करकंडु २. दुर्मुख ३. नमि एवं ४. नग। इन्होंने क्रमशः प्रथम ने वृषभ के दृष्टान्त से, दूसरे ने वादल के दृष्टान्त से, तीसरे ने कंकण के दृष्टान्त से और चौथे ने रसालद्रुम के दृष्टान्त से बोधि को प्राप्त किया। प्रत्येकबुद्ध की जघन्य उपधि दो प्रकार की होती है - १. मुखवस्त्रिका और रजोहरण २. मुखवस्त्रिका, रजोहरण सहित सात प्रकार की पात्र उपधि। इनका श्रुतज्ञान पूर्वाधीत ही होता है। जघन्य से ग्यारह अंग एवं उत्कृष्टतः देशोन (दस में कुछ कम) दस पूर्व की श्रुत-संपदा होती है। उनको रजोहरणादि लिंग शासन देवता देते हैं, अथवा लिंगरहित भी होते हैं।

वे एकाकी ही विचरण करते हैं, गच्छ में नहीं रहते हैं - इस प्रकार यह प्रत्येकबुद्धों के उपकरणों की स्थिति है।

साध्वी के उपकरण इस प्रकार से हैं :-

स्थविरकल्पी साधु के चौदह उपकरण तो साध्वियों के भी होते हैं। इनके अतिरिक्त ग्यारह उपकरण और होते हैं, वे इस प्रकार हैं - १. अवग्रहानन्तक २. पट्टक ३. अर्धोरुक ४. चलनिका ५. अभ्यन्तर निर्वसणी ६. बहिर्निर्वसणी ७. कंचुक ८. उपकक्षिका ९. वैकक्षिका १०. संघाटी एवं ११. स्कंधकरण - इस प्रकार पूर्व की चौदह उपधि मिलाकर साध्वियों के कुल पच्चीस प्रकार की ओष उपधि होती है। अब उनके उपयोग बताए जा रहे हैं :-

अवग्रहणान्तक - यह गुप्तांग के रक्षणार्थ होता है। मोटे वस्त्र से निर्मित इस वस्त्र को देह से स्पर्श करते हुए अच्छी तरह बांधा जाता है। यह गुप्तांग के परिमाणानुसार बनाना चाहिए।

पट्टक - देह-परिमाण के अनुसार होता है तथा एक होता है। कमर पर कमरपट्ट बाँधने पर पहलवान के कच्चे सा आकार बनता है।

अर्धोरुक - अर्धोरुक का उपयोग भी पट्ट के समान ही है। पट्ट एवं अर्धोरुक - दोनों मिलाकर कटि का आच्छादन करते हैं।

चलनी - यह बिना सिला हुआ वस्त्र होता है, जो जानु परिमाण लम्बा होता है।

आभ्यन्तरी (अन्तर्निर्वसनी) - यह कमर से लेकर अर्द्ध जंघा तक पहनी जाती है।

बहिर्निर्वसनी - बहिर्निर्वसनी कमर पर डोरे से बांधी हुई होती है एवं टखनों तक लंबी होती है।

कंचुक - बिना सिला हुआ तथा स्तनों को ढकने वाला वस्त्र कंचुक कहलाता है।

उपकक्षिका - दाईं तरफ पहना जाने वाला वस्त्र उपकक्षिका (दाईं ओर से बाईं ओर लेकर दाएँ कंधे पर बांधा जाता है।)

वैकक्षिका - कंचुक और उपकक्षिका को आच्छादित करते हुए पहना जाता है।

संघाटी (चादर) - संघाटी चार प्रकार की होती हैं। दो हाथ परिमाण की संघाटी उपाश्रय में ओढ़ने के लिए होती है। यह चौड़ाई में पादप्रोँछन जितनी होती है। दो संघाटी (चादर) तीन हाथ की होती है - एक ग्राम में भिक्षा के लिए, दूसरी स्थण्डिल के लिए जाते समय ओढ़ी जाती है। चार हाथ की चादर उचित अवसर अर्थात् प्रवचन-सभा, स्नात्रपूजा आदि के अवसर पर उपयोग की जाती है। चादर कोमल वस्त्र की बनी हुई होनी चाहिए।

स्कंधकरणी - चार हाथ लंबी होती है। यह वायुजन्य पीड़ा से रक्षा करने में उपयोगी है, साथ ही रूपवती साध्वी की शील-रक्षा हेतु उसे कुब्जा दिखाने में भी यह उपयोगी है, अतः इसे कुब्जकरणी भी कहते हैं।

ये साधु-साध्वियों के उपकरण हैं। मुनियों द्वारा दण्ड नामक उपकरण बाहर जाते समय पशु, सर्प आदि के निवारण के लिए रखा जाता है और वे साधु और साध्वियों के लिए पाँच प्रकार के होते हैं-

१. सहज भूमि में स्कन्ध तक का २. ग्लान के आलम्बन के लिए ढाई हाथ परिमाण का ३. जल में, अर्थात् नदी को पार करते समय संपूर्ण शरीर के परिमाण से आधा हाथ अधिक ४. वर्षाकाल में कीचड़वाली भूमि में मोटा एवं देह-परिमाण का तथा ५. मार्ग में चलते समय स्कन्ध तक का एवं मजबूत दण्ड होना चाहिए। वह दण्ड १. वंश २. श्रीपर्णी ३. वटवृक्ष ४. क्षीरवृक्ष (बड़, पीपल, गूलर) या सादी लकड़ी से निर्मित, जैसा मिले वैसा रखना चाहिए। ब्रह्मचारी, क्षुल्लक एवं प्रथम उपनीत को काय-परिमाण का और पलाश या चन्दन से निर्मित दण्ड रखना चाहिए। व्रत विशेष के समय ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यों को बिल्व या उदुम्बर आदि के काष्ठ से निर्मित, अथवा उस समय लोक में जैसा प्रचलित हो, वैसा दण्ड लेना चाहिए।

साधुओं का एक उपकरण दण्डप्रोँछन होता है। मयूर के पंखों से निर्मित या मुंज से निर्मित पिच्छिका दण्ड से बंधी हुई होती है। धर्मोपकरण आदि अन्य परम्परा से भेद करने के उद्देश्य से भी रखे जाते हैं।

इस प्रकार के उपकरणों से युक्त साधु और साध्वी संयम का पालन करते हैं। चर्मादि परिमाण को प्रवचनादि से, अर्थात् आगम ग्रन्थों से ज्ञात कर सकते हैं।

साधु-साध्वी की दिनचर्या - साधु और साध्वी रात्रि के अन्तिम प्रहर में परमेष्ठी मंत्र पढ़कर संस्तारक से उठें। फिर दण्डप्रोँछन (दण्डासन) से शय्या की प्रतिलेखना करके तथा पैरों की प्रमार्जना करके प्रस्रवणभूमि तक जाएं। फिर प्रस्रवणभूमि को दण्डासन से प्रतिलेखित करके शनैः-शनैः मूत्र का त्याग करे। फिर उसी विधि से वसति के बाहर जाकर संध्या के समय प्रमार्जित स्थंडिल भूमि पर परठें। तत्पश्चात् पुनः उसी प्रकार संस्तारक के पास आकर प्रतिलेखन करके संस्तारक को लपेट दें, फिर संध्या के समय प्रतिलेखित किए गए लकड़ी के आसन पर या पादप्रोँछनक को बिछाकर उस पर स्थित हो ईर्यापथिकी (आवागमन की क्रिया) के पापों की आलोचना करे और शक्रस्तव का पाठ करे। फिर रात्रि में कोई दुःस्वप्न आया हो, तो उसके प्रायश्चित्त के लिए कायोत्सर्ग करे। कायोत्सर्ग पूर्ण करके चतुर्विंशतिस्तव बोलें। उसके बाद “इच्छामि पडिक्कमिउं पगाम सिज्झाए” से लेकर “राईयो अइयारो कओ तस्स मिच्छामि दुक्कडं” तक का पाठ बोलें। फिर स्वाध्याय-पाठ, नमस्कार-जाप एवं धीमे-धीमे स्वर से अन्य विद्या का अभ्यास करते हुए रात्रि व्यतीत करे। फिर रात्रि की एक घटिका शेष रहने पर रात्रि प्रतिक्रमण करे। प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग, प्रत्याख्यान आदि की विधि आवश्यक उदय में वर्णित है। फिर सूर्योदय होने पर श्रीमद् इन्द्रभूति गणधर स्तुति के पाठ से अंग की, उपधि की एवं वसति की प्रतिलेखना करे। तत्पश्चात् स्वाध्याय करे। फिर धर्म का आख्यान करे, शिष्य साधु एवं श्रावक-श्राविकाओं को पाठ दें, अर्थात् पढ़ाएं, स्वयं भी पढ़ें तथा धर्मशास्त्र लिखने का कार्य करे। फिर दिन का प्रथम प्रहर व्यतीत होने पर पोरसी की

प्रतिलेखना करे। तत्पश्चात् तिर्पणी में प्रासुक जल ग्रहण करके जिनालय हेतु प्रस्थान करे। जिनालय में चार स्तुतियों द्वारा चैत्यवंदन, अर्थात् देववंदन करे और उसके बाद बाहर जाकर स्थण्डिल भूमि पर मलमूत्र का उत्सर्ग करे। पुनः वसति में आकर गमनागमन में लगे दोषों की आलोचना करे। जैसा कि कहा गया है - सभी जगह गमन के अन्त में मलमूत्र का त्याग करने पर, कथा के अन्त में, चलने के बाद, चैत्य के मध्य प्रवेश करने पर, स्थिर वस्त्र के प्रयोग के समय, वन्दन आदि आवश्यकों में, शक्रस्तव का पाठ करते समय, भोजन आदि कर्मों के अन्त में, अवग्रह का ग्रहण करने पर, प्रत्याख्यान आदि लेते समय, षट्जीवनिकाय के संघट्ट होने पर, परिग्रह आदि का संस्पर्श दोष लगने पर, कालग्रहण में, स्वाध्याय और जलपान की क्रियाओं में - इन सभी स्थितियों में साधु-साध्वी को हमेशा ईर्यापथिकी की क्रिया से इन क्रियाओं में लगे दोषों की आलोचना करनी चाहिए अर्थात् साधु-साध्वियों को हमेशा ईर्यापथिकी के प्रतिक्रमण का आचरण करना चाहिए। निश्चित ही जीवनपर्यन्त के लिए स्वीकार की गई, उनकी यह सर्वविरति सामायिक ईर्यापथिकी (गमनागमन में लगे दोषों की आलोचना) के बिना शुद्ध नहीं होती है। तत्पश्चात् पुनः शक्रस्तव बोलकर प्रत्याख्यान पारणे के लिए मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना करे। तत्पश्चात् गुरु से कहें - "चौविहार पोरसी सहित आगार से युक्त भक्त पान के प्रत्याख्यान को मैं पूर्ण करना चाहता हूँ।" गुरु कहते हैं - "जिसका भी काल पूरा हो गया हो, वे प्रत्याख्यान पार लें, अर्थात् पूर्ण कर लें।" फिर विधिपूर्वक तीन प्रकार से पात्रों की प्रतिलेखना करे। तत्पश्चात् पिण्डनिर्युक्तिशास्त्र में कही गई विधि के अनुसार आहार-पानी की गवेषणा करे। साधु और साध्वी व्यायाम, भिक्षा एवं अन्य कार्यों के लिए सौ हाथ से बाहर एकाकी न जाए - इस नियम का पालन करते हुए साधु और साध्वी को सर्वत्र विचरण करना चाहिए। जैसा कि आगम में भी कहा गया है - "सूत्र और अर्थ को पूछने के लिए, किसी को उद्देश या प्रेरणा देने के लिए, मरणांतिक आराधना, अर्थात् संलेखना ग्रहण करने वाले के विनय एवं वैयावृत्त्य हेतु भी साधु अकेला न जाए। अकेले भिक्षाचर्या के लिए जाने में भी विक्षिप्त स्त्रियों का नित्य भय बना रहता है, क्योंकि अकेले में ऐसा

कोई भी अकार्य हो सकता है, जिसे बहुत से लोगों के मध्य में करना अशक्य हो। मल-मूत्र, वमन, पित्त - इन सबसे व्याकुल, मूर्च्छा आदि से विमोहित तथा वाणी के विवेक से रहित मुनि यदि अकेला जाता है, तो भयंकर अकृत्य हो सकते हैं। एक दिन में भी जीव के अनेक शुभाशुभ परिणाम होते हैं। अशुभ भावों से युक्त अकेला मुनि दूसरे के आलम्बन से शुभ परिणामों का त्याग कर सकता है। स्थविरकल्प में सभी जिनों ने इसे अनुचित कहा है। अकेला मुनि तप और संयम से शीघ्र पतित हो जाता है।“

तत्पश्चात् दशवैकालिकसूत्र के पिण्डैषणा नामक अध्ययन में ऊही गई विधि के अनुसार आहार-पानी आदि ग्रहण करके पुनः वसति में आएँ। गमनागमन में लगे दोषों की निम्न प्रकार से आलोचना करे -

“हे भगवन् ! गमनागमन में लगे दोषों की मैं आलोचना करता हूँ। मार्ग में पूर्व, पश्चिम, उत्तर एवं दक्षिण दिशा में जाने-आने से कायसंज्ञा के त्याग से, अर्थात् प्रमादवश वनस्पतिकाय, त्रसकाय, स्थावरकाय जीवों के संस्पर्श से जो मेरा व्रत खण्डित हुआ है, विराधित हुआ है, उसके लिए मैं मिथ्या दुष्कृत देता हूँ।“ - यह गमनागमन आदि दोषों की आलोचना साधु-साध्वियों द्वारा हमेशा चैत्य से जाकर आने पर, रात्रि का एक प्रहर शेष रहने पर, अर्थात् अन्तिम प्रहर के समय पर, भिक्षा लेकर आने पर करनी चाहिए। तत्पश्चात् गोचरी चर्या के प्रतिक्रमण के लिए कायोत्सर्ग करे। कायोत्सर्ग में नमस्कार-मंत्र का चिन्तन करे। कायोत्सर्ग पूर्ण करके प्रकट रूप से नमस्कार-मंत्र बोलकर “पडिक्कमामि गोअरचरिआए” इत्यादि सूत्र (दण्डक) बोलें। तत्पश्चात् - “अहो! जिनेन्द्र भगवन्तों ने साधुओं को मोक्ष-साधना के आधारभूत संयमी शरीर धारण (रक्षण-पोषण) करने के लिए निरवद्य (भिक्षा) वृत्ति का उद्देश दिया है।“ - यह गाथा मौनपूर्वक बोलें। फिर गुरु के समक्ष (गृहस्थ के घर से) जिस विधि से आहार ग्रहण किया हो, उसका सम्पूर्ण विवेचन करे। तत्पश्चात् एक क्षण विश्राम करके ग्रासैषणा के पाँच दोषों का त्याग करते हुए भोजन करे। साधु-साध्वियों में आचार्य, उपाध्याय,

वाचनाचार्य, महत्तरा, भिक्षा के लिए जाते समय अक्षपोट्टलिका, पट, इष्ट देवता की पूजा एवं मंत्र का स्मरण करते हैं। तत्पश्चात् आहार कर लेने पर पात्रों को अच्छी तरह से साफ कर, धोकर और अच्छी तरह से प्रमार्जन करके उन पात्रों को बांधने की जो विधि बताई गई है, उसके अनुसार बांधें। तत्पश्चात् पुनः ईर्यापथिकी के दोषों से पीछे हटकर, अर्थात् इरियावहि करके शक्रस्तव का पाठ करे। तत्पश्चात् मुनिजन थोड़े समय विश्राम करने के बाद गुरु एवं साधुओं की पैयावृत्त्य करें, बाल साधुओं को अध्ययन करवाएं, उपकरण को ठीक करें या बनाएं, पात्र आदि के लेप, अर्थात् पात्र रंगने का कार्य एवं लिखने-पढ़ने का कार्य करें। तत्पश्चात् चतुर्थ प्रहर में मुनि प्रतिलेखना और स्वाध्याय करें, उसकी सम्पूर्ण विधि आवश्यक उदय में वर्णित है। तत्पश्चात् षट्पदी से युक्त वस्त्र को षट्पदी जीवों की प्राणरक्षा के लिए एक मुहूर्त जंघा पर बांधें। इसके बाद बाल साधु और चतुर्थ, षष्ठ, अष्टम भक्त के तपस्वी मुनि पुनः भिक्षाटन करके आहार करे। भिक्षा हेतु भ्रमण करने की विधि तथा आहार करने की विधि पूर्ववत् है। तत्पश्चात् संध्याकालीन आवश्यक क्रिया करे। चतुर्थ प्रहर के शेष भाग में संध्या के समय प्रभातकालीन प्रतिलेखना की तरह ही प्रतिलेखना करे। तत्पश्चात् रात्रि का प्रथम प्रहर व्यतीत होने पर साधु मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना करके कहें -“हे भगवन् ! प्रथम प्रहर पूरा हो चुका, अब मैं रात्रि संधारा करूं ?” यह कहकर शक्रस्तव का पाठ करे। तत्पश्चात् साधु यथायोग्य संस्तारक पर निद्राधीन हों। शयन की विधि यह है - मुनि संस्तारक करके उस पर बैठकर परमेष्ठीमंत्र का या अन्य इष्ट मंत्र का जाप करे। तत्पश्चात् हाथ और पैर को संकोच बाँधें हाथ को सिर के नीचे तकिए की तरह लगाकर बाँधें पसवाड़े में सोए। हाथ-पैर को फैलाते समय उस अंग की तथा उस स्थान की प्रतिलेखना करे। इस प्रकार रात्रि का तृतीय प्रहर व्यतीत होने पर ब्रह्ममुहूर्त में जाग्रत होकर साधु मन्द स्वर में इस प्रकार स्वाध्याय करे, जिससे अन्य व्यक्ति जाग न जाए - यह उत्तर-अध्ययन का रहस्य है। मुनियों की भाँति ही साध्वियाँ भी इसी चर्या का वहन करती हुई कषाय से विनिर्मुक्त एवं समतारस में लीन होकर संयम का पालन करें।

आचार्य वर्द्धमानसूरिकृत “आचारदिनकर” में यतिधर्म के उत्तरायण में अहोरात्रि चर्या कीर्तन नामक तीसवाँ उदय समाप्त होता है।



// एकतीसवाँ उदय //

साधुओं की ऋतुचर्या

अब साधुओं की ऋतुचर्या का वर्णन कर अलग-अलग ऋतुओं में उनके आचार की विधि की विवेचना की जा रही है। वह इस प्रकार है -

हेमन्त-ऋतु में साधु प्रायः वस्त्रों का त्याग करे। अल्प निद्रा एवं अल्प आहार ले। कभी भी तेल का मर्दन न करे और न ही बालों का गुच्छ, अर्थात् लंबे बाल रखे। शीत के निवारणार्थ रुई की शय्या पर शयन न करे और न ही अग्नि का प्रयोग करे। जिनसे रस उत्पन्न हो ऐसे गर्म, तीक्ष्ण (तीखे), खट्टे एवं मधुर आहार की इच्छा नहीं रखे। अन्य जीव निकाय का संस्पर्श न करे और न ही जूते पहने। शीतल जल अर्थात् कच्चा पानी (अप्रासुक जल) न पीए और शान्त भाव से आहार करे। पशुओं के समान क्रीडा करने वाली वेश्याओं के घर में प्रवेश न करे। नारी, नपुंसक आदि का कभी भी साथ न करे। न उष्ण जल आदि से स्नान करे, न प्रकटित दीपक को बुझाए। जो स्थान ऊपर से आच्छादित न हो, वहाँ शयन न करे। ऊनी वस्त्र (कामली) के बिना भ्रमण अर्थात् विहार न करे, मूत्र, थूक आदि को रखे नहीं, तत्काल ही परठ दे। पात्र एवं मात्रक में, पवित्र देह या पवित्र भूमि पर, नख के अन्दर कभी भी थोड़ा सा भी मैल न डाले। देह एवं संयम की रक्षा के लिए कम्बल आदि रखे। सूती वस्त्र से युक्त करके ही कम्बल का प्रयोग करे, वस्त्र के बिना कम्बल का प्रयोग न करे, अथवा वस्त्रधारी ही कम्बल रखे, वस्त्ररहित साधु कम्बल न रखे। मार्गशीर्ष से लेकर आषाढ़ तक प्रत्येक मास में विहार करता रहे, एक स्थान पर रहना उसके लिए उचित नहीं है। सदा एक स्थान पर रहने से राग, द्वेष, धन एवं स्थान का परिग्रह, अनादर का भाव और सुखासक्ति आदि अनेक दोष संभव होते हैं, अतः एक मास, एक ऋतु अर्थात् दो मास; दो ऋतु अर्थात् चातुर्मास; तीन ऋतु अर्थात् छः मास (अयन); या वर्षा के अन्त में मुनियों के लिए विहार करना उचित है। मास के अन्त में, दो या तीन ऋतुओं के व्यतीत

होने पर या वर्षावास के पश्चात् मुनियों को हमेशा विहार करना चाहिए। जैसा कि आगम में कहा गया है - “जिस गाँव में मुनि काल के उत्कृष्ट प्रमाण तक रह चुका हो, वहाँ दो वर्ष का अन्तराल किए बिना न रहे। भिक्षु आगम के अनुसार आचरण करे, आगम का जो तात्पर्य हो, उसी प्रकार व्यवहार करे। मुनियों को विहार करते समय जातचीत नहीं करनी चाहिए तथा सजग रहना चाहिए।

अब विहार की उत्तम विधि क्या है ? इसका वर्णन है -

वर्षा और शरद ऋतु को छोड़कर शेष चार ऋतुएँ विहार हेतु उपयुक्त हैं, मेघ रहित आकाश, सुभिक्षकाल, पथ की मनोज्ञता, राज्य में शान्ति, शत्रु-सेना के आक्रमण का अभाव, इस प्रकार की परिस्थिति मुनियों के लिए विहार हेतु उपयुक्त होती है।

विहार करने के योग्य मुनि इस प्रकार है - “जो शान्त हो, जिसके हाथ-पैर में चलने की शक्ति हो, सभी देशों की स्थिति को जानता हो, सभी भाषाओं में प्रवीण हो, जो रस, स्पर्श एवं स्थान में भी लुब्ध न हो, कलाओं का जानकार हो, सभी विद्याओं में प्रवीण हो, संयम पालन में दृढ़ हो, चुस्त शरीर वाला और युवा हो, जिसे पर की अपेक्षा न हो, शीत, उष्ण, तृष्णा, क्षुधा, निद्रा आदि परिषहों को भी जिसमें सहन करने की क्षमता हो, जिसके पास मुनि-जीवन के अपेक्षित उपकरण हो एवं गुरु की आज्ञा पालन करने हेतु तत्पर हो, ऐसे साधु सदैव विहार करने के लिए योग्य होते हैं, इन गुणों से रहित साधु विहार करने के लिए अयोग्य होता है।

विहार के लिए आवश्यक स्थितियाँ एवं वस्तुएँ इस प्रकार हैं- अच्छे सार्थ का साथ होना, शुभ दिन, प्रचुर मात्रा में वस्त्र, पात्र आदि तथा दण्डप्रोच्छन (दण्डासन) आदि मुनि के सभी उपकरण, अनेक प्रकार के दण्ड, प्रचुर मात्रा में पुस्तक एवं कम्बल, देह का सामर्थ्य एवं धैर्य विहार हेतु अनिवार्य है।

विहार के अयोग्य देश के लक्षण इस प्रकार है -

विहार के अयोग्य देश वे हैं, जिनमें अनार्य लोग रहते हों, जहाँ के लोग पापकारी प्रवृत्तियों में अधिक प्रवृत्त हों, जहाँ दुर्भिक्ष हो,

लोग दुर्जन हो, वाणी के विवेक से रहित हों, अल्प श्रावकजन हों, अर्थात् श्रद्धावान् लोग कम हो तथा जो देश (स्थान) उपद्रव या आतंक से युक्त हो। इस प्रकार के देश अनार्य कहे जाते हैं। अनार्य देश के नाम इस प्रकार हैं - १. शक २. यवन ३. शबर ४. बर्बर ५. काय ६. मुरुण्डदेश ७. उड्डुदेश ८. गौडदेश ९. पक्वणग देश १०. अरब देश ११. हूण देश १२. रोम देश १३. पारस देश १४. खस देश १५. खासिक देश १६. द्रुंबिलक देश १७. लकुश देश १८. बोक्कश देश १९. भिल्ल देश २०. पुर्लीद्र देश २१. कुंच देश २२. भ्रमर देश २३. भया देश २४. कोपाय (कम्बोज) देश २५. चीन देश २६. चंचुक देश २७. मोलव देश २८. मालव देश २९. कुलार्द्ध देश ३०. कैकेय देश ३१. किरात देश ३२. हयमुख देश ३३. खरमुख देश ३४. गजमुख देश ३५. तुरंगमुख देश ३६. मिढकमुख देश ३७. हयकर्ण देश ३८. मुहयकर्ण देश ३९. गजकर्ण देश - इनके अतिरिक्त भी अन्य बहुत से अनार्य देश हैं।

इन देशों के लोग पापी, चंडकर्मा, अनार्य, निर्घृण, निरणुतापी होते हैं। इन देशों में रात्रि के स्वप्न में भी धर्म शब्द देखने-सुनने को नहीं मिलते।

विहार के योग्य देश वे हैं, जिनमें आर्य लोग रहते हों, सुभिक्ष हो, शत्रुसेना आदि के भय से मुक्त हो, जहाँ लोगों में वाणी का विवेक हो, लोग श्रद्धालु हों, जहाँ लोगों में एक-दूसरे के प्रति आदर भाव हो तथा बहुत से श्रद्धालु रहते हों, अर्थात् बहुत से श्रावक रहते हों - ऐसे क्षेत्र विहार हेतु उपयुक्त कहे गए हैं।

आर्य देश इस प्रकार हैं - १. राजगृह-मगध २. चंपा-अंग देश ३. ताम्र लिप्ती बंग देश ४. कांचनपुर-कलिंग देश ५. वाराणसी-काशी देश ६. साकेत नगर-कौशल देश ७. गजपुर-कुरु देश ८. शौरीपुर-कुशार्त ९. कांपिल्य नगर-पांचाल देश १०. अहिच्छत्रा नगरी-जंगल देश ११. द्वारवती नगरी-सौराष्ट्र देश १२. मिथिलानगरी-विदेह देश १३. कौशाम्बी नगरी-वत्स देश १४. नंदिपुर-शाण्डिल्य १५. भद्रिलपुर-मलय देश १६. बैराटपुर -मत्स्य देश १७. वरुणा-अच्छ देश १८. मृत्तिकावती नगरी-दशार्ण देश १९. शुक्तिमती

नगरी-चेदि देश २०. वीतभय नगर-सिंधु सौवीर देश २१. मथुरानगरी-सूरसेनदेश २२. पापानगरी-भंगिदेश २३. मासपुरी नगरी-वर्त देश २४. श्रावस्ती नगरी-कुणाल देश २५. कोटिवर्ष नगर-लाढ देश २६. श्वेताम्बिका नगरी-अर्धकैकय - जिन देशों में तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलदेव एवं वासुदेवों का जन्म होता है, वे आर्य देश हैं। इन देशों में रहने वाले साधुओं को इसी प्रकार के जनपदों में पादविचरण करना चाहिए।

प्रातःकाल सूर्य के उदित होने पर प्रतिदिन दस मुहूर्त तक पाँच सौ धनुष की यात्रा करना शुभ है। जहाँ माण्डलिक राजा का राज्य हो, वहाँ सात दिन, जहाँ राजा का राज्य हो वहाँ दस दिन और शेष क्षेत्रों में पाँच दिन तक स्थिरता करें।

सोमवार, बुधवार, गुरुवार एवं शुक्रवार प्रस्थान के लिए उत्तम कहे गए हैं। पूर्णिमा, अमावस्या एवं चतुर्दशी के दिन विहार न करे। अश्विनी, पुष्य, रेवती, मृगशीर्ष, मूला, पुनर्वसु, हस्त, ज्येष्ठा, अनुराधा नक्षत्र यात्रा हेतु उत्तम नक्षत्र हैं।

विशाखा, उत्तरात्रय, आर्द्रा, भरणी, मघा, आश्लेषा एवं कृतिका नक्षत्र यात्रा हेतु अधम नक्षत्र माने गए हैं, अर्थात् इन नक्षत्रों में विहार करना अशुभ माना गया है। शेष नक्षत्र विहार के लिए मध्यम माने गए हैं। ध्रुव एवं मिश्र नक्षत्रों के होने पर पूर्वाह्न में, क्रूर नक्षत्रों के होने पर मध्याह्न में, क्षिप्र नक्षत्रों के होने पर अपराह्न में, मृदु नक्षत्रों के होने पर प्रदोष में (पूर्व रात्रि में), तीक्ष्ण नक्षत्रों के होने पर निशीथकाल (मध्यरात्रि) में एवं चर नक्षत्रों के होने पर निशान्त, अर्थात् रात्रि के अन्तिम भाग में यात्रा न करें। दिन शुभ होने पर दिवस की यात्रा एवं नक्षत्र शुभ होने पर रात्रि की यात्रा शुभ होती है। पूर्व आदि चार दिशाओं के जो दिग्द्वार नक्षत्र बताए गए हैं, उन-उन नक्षत्रों में उन-उन दिशाओं में तथा उनसे सम्बन्धित अग्नि आदि विदिशाओं में विहार करना शुभ फलदायी है तथा स्वकीय नक्षत्रों में, अर्थात् उत्तर के नक्षत्रों में पूर्वयात्रा, पूर्व के नक्षत्रों में उत्तर की यात्रा एवं दक्षिण के नक्षत्रों में पश्चिम की यात्रा और पश्चिम के नक्षत्रों में दक्षिण की यात्रा करना मध्यम है तथा इसके विपरीत स्थिति

में यात्रा करना अशुभ है, अर्थात् धनिष्ठा से लेकर सात-सात नक्षत्र क्रमशः उत्तर, पूर्व, दक्षिण एवं पश्चिम द्वार के हैं। अतः इन-इन नक्षत्रों में उन-उन दिशाओं में उन-उन से सम्बन्धित विदिशाओं में यात्रा करना शुभदायक है। धनिष्ठा आदि सात नक्षत्र तथा कृत्तिकादि सात नक्षत्र परस्पर स्वकीय हैं, इसी प्रकार मघादि सात नक्षत्र एवं अनुराधादि सात नक्षत्र भी परस्पर स्वकीय हैं, अतः इन स्वकीय नक्षत्रों में उत्तर के नक्षत्रों में पूर्व की यात्रा, पूर्व के नक्षत्रों में उत्तर की यात्रा, दक्षिण के नक्षत्रों में पश्चिम की यात्रा एवं पश्चिम के नक्षत्रों में दक्षिण की यात्रा करना मध्यम है, किन्तु उत्तर-पूर्व के नक्षत्रों में दक्षिण-पश्चिम की ओर यात्रा करना अशुभ है। सभी दिशाओं में एवं कालों में सिद्धि प्राप्त करने के लिए हस्त, श्रवण, रेवती, अश्विनी, मृगशीर्ष तथा पुष्य नक्षत्र में विहार करना शुभ माना गया है। गुरुवार को दक्षिण दिशा में, शनिवार और सोमवार को पूर्व दिशा में, शुक्रवार और रविवार को पश्चिम दिशा में, बुधवार एवं मंगलवार को उत्तर दिशा में, मंगलवार को वायव्य कोण में, शनिवार और बुधवार को ईशान कोण में, शुक्रवार और रविवार को नैऋत्य कोण में एवं गुरुवार और सोमवार को आग्नेय कोण में प्रस्थान न करे। श्रीखण्ड (चन्दन), दही, घृत, तेल, पिष्ट, सर्पि और खल (तिलकूट) क्रमशः प्रत्येक वार के अशुभत्व का भेदन करते हैं - यह दिशाशूल का विचार है। आषाढ़ एवं श्रवण नक्षत्र में पूर्व दिशा में, धनिष्ठा, विशाखा नक्षत्र में दक्षिण दिशा में, पुष्य एवं मूल नक्षत्र में पश्चिम दिशा में, हस्त नक्षत्र में उत्तर दिशा में विहार न करे - ये नक्षत्र शूल के समान कहे गए हैं। यह नक्षत्रशूल का विचार है।

ज्येष्ठा नक्षत्र में पूर्व दिशा में, पूर्व भाद्रपद में दक्षिण दिशा में, रोहिणी नक्षत्र में पश्चिम दिशा में एवं उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र में उत्तर में जाना अशुभ माना गया है। पूर्व से आरंभ करके आठों दिशाओं में दो-दो तिथियाँ योगिनी संज्ञिका कही जाती हैं। जैसे - पूर्व दिशा में प्रयाण करते समय प्रतिपदा एवं नवमी योगिनी संज्ञिका तिथियाँ हैं। वह तिथि अपने प्रारम्भकाल से डेढ़-डेढ़ घंटे तक (अर्द्धप्रहर) तक अपनी स्थित दिशा में दक्षिण क्रम से निवास करती है अर्थात् प्रत्येक दिशा में आधे-आधे प्रहर तक रहती है। इसे ही अर्द्धप्रहर योगिनी या

तत्काल योगिनी कहते हैं। सूर्योदय से लेकर रात्रिपर्यन्त आठ-आठ अर्द्ध प्रहरों में पूर्वादिक दिशाओं में भ्रमण करता हुआ राहु यात्रा के समय सामने या दाहिनी ओर आए, तो उसका त्याग करे। यात्रा के समय राहु दाहिनी ओर तथा पीछे की तरफ, योगिनी बाईं ओर तथा पीछे की तरफ एवं चंद्रमा सम्मुख हो, तो वह व्यक्ति जय को प्राप्त करता है। चंद्रमा में मेष आदि बारह राशियों में पूर्वादि चारों दिशाओं में पूर्व, दक्षिण, पश्चिम एवं उत्तर के अनुक्रम से विचरण करता है। यात्रा के समय चंद्रमा यदि सम्मुख हो, तो अतीव श्रेष्ठ फल प्रदान करता है। चंद्रस्वर (शशिप्रवाह) में गमन शुभ (प्रशस्त) है तथा सूर्यस्वर (सूर्य के प्रवाह) में कभी भी शुभ नहीं होता है।

सूर्य रात्रि के अन्तिम प्रहर से दो-दो प्रहरों तक पूर्वादि चारों दिशाओं में विचरण करता है। इसके दाहिनी बाजू रहते यात्रा, बाईं बाजू रहते प्रवेश एवं पीठ पीछे रहते दोनों (यात्रा और प्रवेश) सुखदायी होते हैं।

प्रतिपदा से आरम्भ करके प्रतिदिन सम्मुखस्थ दिशा में उसका पाशकाल होता है। पूर्व दिशा से, शुक्ल प्रतिपदा से लेकर क्रम से मास पर्यन्त तक यह पाशकाल होता है।

कन्या, तुला और वृश्चिक संक्रान्ति में पूर्व दिशा में, कुंभ, भकर और धनु संक्रान्ति में दक्षिण दिशा में; मीन, मेष और वृषभ संक्रान्ति में पश्चिम दिशा में एवं मिथुन, कर्क और सिंह संक्रान्ति में उत्तर दिशा में वत्स होता है। प्रयाण, चैत्यादि द्वारस्थापन में, पूजा आदि तथा प्रवेश में सम्मुख एवं पृष्ठ का वत्स अशुभ कहा गया है।

शुक्र जिस दिशा में उदित हो, भ्रमणवश जिस दिशा में जाए और जिन दिग्द्वार नक्षत्रों पर हो, उस दिशा की ओर यात्रा करने वाले के लिए शुक्र-सम्मुखत्व होता है। यह सम्मुखत्व भी तीन प्रकार का है। यदि शुक्र सम्मुख हो, तो वह नेत्र को हानि पहुँचाता है, दाहिनी ओर हो, तो अशुभफलदायी होता है, किन्तु पीठ पीछे और बाईं ओर का शुक्र सर्व सुखदायी होता है।

उपर्युक्त श्लोकों में कहे गए अनुसार तिथि, वार, लग्न, नक्षत्र, चन्द्रबल एवं ताराबल को देखकर अनुकूल शकुन होने पर

विहार करे। अनुकल शकुनों को जानने के लिए “बसंतराजशकुनार्णव” नामक ग्रन्थ देखें। चातुर्मास के बाद पूर्णिमा के दिन विहार करना वर्जित है, किन्तु उससे पूर्व त्रयोदशी के दिन भी विहार करने की अनुमति गीतार्थों ने दी है। श्रावकजन, क्षेत्रदेवता, राजा, सुसाधुजन एवं गुरु की अनुज्ञा लेकर साधु दिन में विहार करे, रात्रि में विहार न करे। एक मास के लिए भी साधु जहाँ रहता है, वहाँ छः जनों की अनुज्ञा लेता है। वे छः जन इस प्रकार हैं - १. इन्द्र २. क्षेत्रदेवता ३. राजा ४. साधु ५. नगर के मुखिया एवं ६. गुरु।

जैसा कि आगम में कहा गया है - देवेन्द्र, राजा, गृहपति, सागारिक (वसति का मालिक) एवं स्वधर्मी (साधु-साध्वी) - इन पाँचों से सम्बन्धित पाँच अवग्रह होते हैं। मुनि को इनके अवग्रह में इनकी अनुमति लेकर ही रहना कल्पता है। गुरु के आयुष्यपर्यन्त गुरु द्वारा चारों दिशाओं में अवग्रहित भूमि गुरु का अवग्रह होता है, उसमें रहने के लिए उनकी अनुज्ञा लें। मुनि जहाँ भी रहे, वहाँ इन छः जनों से अनुज्ञा ले, अन्यथा इनकी आज्ञा के बिना स्थिति या प्रस्थिति होने से मुनि के अदत्तादान व्रत का भंग होता है - यह हेमन्तऋतु की चर्या है।

शिशिरऋतु में भी मुनि को हेमन्तऋतु की भाँति ही चर्या करनी चाहिए। श्लेष्म (बलगम) को किंचित मात्र भी निगले नहीं और न अधिक मात्रा में जल पीए। - यह शिशिर ऋतु की चर्या है।

बसन्तऋतु में मुनि भूषा का सर्वथा त्याग करे। नीरस आहार ग्रहण करे और अच्छे वस्त्र धारण न करे। मुनि हमेशा ही ब्रह्मचर्यव्रत से युक्त होते हैं, फिर भी विशेष रूप से बसन्तऋतु में विशेष सावधानी रखे, क्योंकि यह समय ही कामभोग की स्मृति का कारक होता है। विशुद्ध भिक्षा करते हुए प्रतिदिन विहार करे। प्रायः स्त्री एवं पशुओं से रहित निर्जन वन में रहे। अभ्यास या अध्ययनशील मुनि को चित्त समाधि हेतु सुवासित स्थान यथा उद्यान आदि में रहना चाहिए। अस्वाध्याय के निवारण के लिए कल्पतर्पण की विधि करे। चैत्रशुक्ल पंचमी से लेकर वैशाख कृष्ण प्रतिपदा तक भूमण्डल पर

सभी जगह निज-निज कुल देवता की पूजा के लिए सभी लोग महिष आदि पशुओं का वध करते हैं। वह काल मुनि के लिए अस्वाध्यायकाल होता है अर्थात् इस काल में मुनियों के लिए स्वाध्याय करना वर्जित है। इस समय आगमपाठ एवं कालग्रहण नहीं कल्पता है, अतः इसको (अस्वाध्यायकाल को) दूर करने के लिए कल्पतर्पण करे। उसकी विधि यह है -

वैशाख कृष्ण प्रतिपदा का दिन व्यतीत होने पर आलोचना एवं तप के योग्य दिनों में कल्पतर्पण विधि करे। “मृदु, ध्रुव, चर एवं क्षिप्र नक्षत्र मंगलवार एवं शनिवार को छोड़कर शेष वार आघाटन (गोचरी), तप, नंदी एवं लोच आदि में शुभ कहे गए हैं।” मुनिजन अल्प जल से वस्त्र धोते हैं। तत्पश्चात् पूर्वाह्न में या अपराह्न में ईर्यापथिक सम्बन्धी पापों का प्रतिक्रमण कर मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना तथा द्वादशावर्तवन्दन करके खमासमणा सूत्र से वन्दन कर कहता है - “हे भगवन् ! छमासिकाय संदिसावओ। हे भगवन् ! छमासिकाय पडिगाहउ।” गुरु कहे - “संदिसावेह, पडिगाहेह।” तत्पश्चात् मुनि दोनों (डोरी एवं तिर्पणी) का संस्पर्श करके पूर्व में बताई गई विधि के अनुसार तिर्पणी को ग्रहण कर गृहस्थ के घर जाने के लिए निकले। जाते समय शुभाशुभ शकुन देखे। यदि शुभ शकुन हो तो ही जाए अन्यथा पुनः अन्य शुभ दिन आने पर कल्पतर्पण विधि का आरंभ करे।

शुभ शकुन होने पर गृहस्थ के घर जाकर गृहस्थ के कांसी के कचोलक (तसले) से एवं सधवा स्त्री के हाथों से उस कल्पतर्पण जल को दाएँ हाथ से कंधे पर रही हुई कामली के आंचल से पकड़े तथा उसी विधि से अर्थात् उसी तरह वसति में आकर शुभपट्ट के ऊपर उसे रखे। तत्पश्चात् सभी साधु गमनागमन में लगे दोषों की आलोचना करके ज्येष्ठ क्रम से अल्प जल से पैरों को धोकर कल्पतर्पण को ग्रहण करे। उसकी विधि यह है -

पट्ट पर स्थित कल्पतर्पण ग्राही दोनों पैरों को नीचे भूमि से संस्पर्शित करे और दोनों हाथ मिलाकर फैलाए। तत्पश्चात् अन्य साधु लघु रजोहरण के अग्रभाग से कल्प तर्पण जल को धीरे-धीरे डाले

और कल्पतर्पण ग्राही उसे पूर्व में बताए गए अनुसार मिलाकर फैलाए गए हाथों में उस जल को ग्रहण करे। तत्पश्चात् हाथों को ऊपर-नीचे करके उन्हें स्नान-मुद्रा में स्कन्ध के सम्मुख ले जाए। उसके बाद उन्हें पट्ट के सम्मुख ले जाए। तत्पश्चात् मुनिजन अपने-अपने उपकरणों की प्रतिलेखना करके, उन्हें कल्पतर्पण जल से सिंचित करें और उसी प्रकार वसति को भी सिंचित करें - यह कल्पतर्पण की विधि है।

यही विधि कार्तिक कृष्ण प्रतिपदा के बाद भी की जाती है। यह विधि करने के बाद मुनिजन प्रमादरहित होकर सिद्धांत की वाचना में स्थित होते हैं। आश्विन मास और चैत्र मास दोनों के नवरात्र के व्यतीत होने पर कल्पतर्पण की विधि करनी चाहिए। - यह बसंत ऋतु की चर्या है।

ग्रीष्मऋतु में मुनिजन कायोत्सर्ग में रत रहें। आतापना का सेवन करते हुए आत्मा को आतापित करे। न तो शीतल जल की आकांक्षा करे और न ही ठंडे स्थान का सेवन करे अर्थात् ठंडक वाले स्थान में न रहें, न पानक आदि का सेवन करे और न ही स्नान करे। वैयावृत्य करने वाले कुछ मुनिजन संतोष के लिए पेय पदार्थ का तथा शीतल स्थान एवं जल आदि का सेवन करते हैं। मुनिजन प्रायः मल, दंश, परीषह को सहन करें। परमात्मा द्वारा निर्दिष्ट अस्नानव्रत का मुनिजन सदैव पालन करे। ग्रीष्मऋतु में विशेष रूप से सिद्धान्तशास्त्रों में जो कहा गया है, उसका पालन करे। (यह बहुत स्पष्ट है कि-) पोली भूमि और दरारयुक्त भूमि में सूक्ष्म प्राणी होते हैं। प्रासुक जल से स्नान करने वाला भिक्षु भी उन्हें जल से प्लावित करता है, इसलिए मुनि शीत या उष्ण जल से स्नान नहीं करते हैं। वे जीवन पर्यन्त घोर अस्नानव्रत का पालन करते हैं। मुनि शरीर पर उबटन करने के लिए गन्ध-चूर्ण, कल्क, लोघ्न, पद्मकेशर आदि का भी प्रयोग नहीं करते हैं। मुनि ग्रीष्मऋतु में विशेष रूप से षट्पदी की (जीवों की) रक्षा करते हैं तथा दीर्घ समय तक रखे गए प्रासुक अन्न एवं पेय पदार्थों का त्याग करते हैं। - यह ग्रीष्मऋतु की चर्या है।

वर्षाकाल में साधुओं को "उच्चार प्रस्रवण श्लेष्म" के लिए तीन मात्रकों की आवश्यकता होती है। वर्षाकाल में साधु विहार नहीं

करते अर्थात् विहार करने की क्रिया का त्याग करते हैं। सुख-दुख रूप एवं उपद्रव से रहित एक ही स्थान पर रहते हैं। इस काल में साधु गृहस्थों द्वारा स्वयं के लिए लीप-पोतकर साफ किए गए तथा जल के निकास आदि की व्यवस्था जिसमें की गई है, ऐसे रुचिप्रद स्थान पर रहें। प्रत्येक प्रहर में फफूंद के भय से पात्र को प्रमार्जित करे। आरोग्य एवं संयम के लिए विकृति का पूर्णतः त्याग करे। यदि ग्लान मुनि कदाचु विकृति का सेवन करता है, तो उसमें कोई दोष नहीं है, पुनः स्वस्थ होने पर यथाशक्ति नियम का पालन करे। काष्ठ के आसन पर बैठें और काष्ठ के आसन पर शयन करे। धीरजनों ने प्राणियों की रक्षा के लिए यह प्रक्रिया बताई है। पकवान् अर्थात् पका हुआ अन्न भी दीर्घ समय का हो, तो उसे भी ग्रहण न करे। शय्यातर के घर से आहार-पानी एवं औषधि न लें। पौषधशाला में पूर्व परिगृहीत पात्र और पट्टादि का त्याग न करे और न ही दूसरे नये पात्र, पट्टादि का ग्रहण करे। मुनि जिस दिशा में जल मिलने की संभावना न हो - ऐसे निर्जल स्थान पर अत्यन्त आवश्यक कार्य हो, तो ही सवा योजन या पाँच कोस तक जाएं। रात्रि में वहाँ रुके नहीं और दिन में भी ऐसे स्थान पर न रहें, प्रायः गर्म पानी अर्थात् अचित्त जल या कांजिक जल ग्रहण करें। थोड़ी बहुत वर्षा होने पर भी पाणिपात्र मुनि भिक्षा के लिए तब तक न जाएं जब तक वर्षा बन्द न हो जाएं। पात्रधारी साधु थोड़ी बहुत वर्षा होने पर कामली ओढ़कर शुद्धा परीषह के निवारणार्थ भिक्षा के लिए जा सकते हैं। भिक्षा के लिए निकल जाने पर यदि मूसलाधार वर्षा हो जाए तो, देवकुलिका में, उपाश्रय में या फिर आरामगृह अर्थात् धर्मशाला में रुक जाएं और वर्षा कम होने पर ही गंतव्य स्थान पर जाएं। साधुजन स्नेह, पुष्प, उत्तिंग, प्राणी, अण्डे, फफूंद, बीज एवं हरितकाय (वनस्पतिकाय) - इन आठ सूक्ष्म जीवों की रक्षा करते हैं। ये सूक्ष्म जीव जिस वर्ण की वस्तु होती है, उसी वर्ण का शरीर धारण कर उसके अन्दर रहते हैं। साधु एकनिष्ठतापूर्वक इनकी प्रतिलेखना करें। वर्षा की स्थिति में मुनि यदि गृहस्थ के घर रुक सकते हैं और यदि वे यह देखें कि भोजन पक रहा है, तो वे उसे ग्रहण नहीं कर सकते हैं। वर्षाकाल में कुछ मुनि तप करने की इच्छा रखते हैं तथा कुछ कायोत्सर्ग एवं योगोद्धहन में

भी संलग्न होते हैं। कुछ विकृति का त्याग करते हैं, तो कुछ मुनि निश्चित परिमाण से अधिक चारों दिशा में जाने-आने का त्याग करते हैं। मुनिजन उपर्युक्त तथा अन्य सभी क्रियाएँ गुरु के आदेश से ही करें। पुनः-पुनः प्रमार्जन आदि करें। साधु अन्य साधुओं को बताकर ही दिशा या विदिशा में जाएं।

भाद्रपद में शुक्ल पंचमी से सात दिन पूर्व से पर्यूषण पर्व प्रारम्भ होता है, आठवें दिन संवत्सरी महापर्व होता है। कुछ लोग भाद्रपद शुक्ल चतुर्थी के दिन संवत्सरी करते हैं। पर्यूषण को छोड़कर अन्य पर्वोत्सव, अध्ययन एवं तपस्या मलमास में प्रारम्भ न करे, परन्तु जो प्रारम्भ हैं, उसे यथावत् कर सकते हैं। इसी प्रकार पर्यूषण को छोड़कर मलमास में देव, पित्त आदि अन्य के निमित्त उपवास व्रत न करे। विवाह, दीक्षा, व्रतारोपण किसी कार्य का प्रारम्भ एवं उद्यापन (समापन) अथवा पितृदेवता आदि से संबंधित अन्य कार्य भी शुभ मास में ही करे। लौकिक शास्त्रों में भी कहा गया है कि अग्निहोत्र, प्रतिष्ठा, यज्ञ, दान प्रतिग्रह, वेदोक्तव्रत, वृषोत्सर्ग, चूडाकरण (मुण्डन-संस्कार), यज्ञोपवीत धारण करना एवं अन्य भी कोई मांगलिक कार्य मलमास में न करे। मलमास का ज्ञान निम्न विधि से करे -

जब सूर्य धनु एवं मीन राशि में हो, तब दो अमावस्याओं के बीच का काल मलमास कहा जाता है। शेष तुला आदि राशियों के पाँच-पाँच मास मलमास नहीं होते। जब अमावस्या का अतिक्रमण करके सूर्य धनु या मीन राशि में आ जाता है, उस अमावस्या के बाद का मास मलमास कहलाता है। उससे पूर्व के मास शुद्ध माने जाते हैं। पर्यूषण, चातुर्मासिक, पाक्षिक और अष्टमी आदि पर्वों में सूर्य का उदय जिस तिथि में हो उसी तिथि को ही मानें, अन्य को नहीं। प्रत्याख्यान, जिनेन्द्रदेव की पूजा आदि उसी तिथि में करना चाहिए, अन्यथा जिनेश्वर परमात्मा की आज्ञा का भंग होता है और आज्ञा का भंग करने से मिथ्यात्व का दोष लगता है। दशाश्रुतस्कंधभाष्य में कहा गया है - “सूर्योदय के समय जो तिथि घटिमात्र भी हो, तो वह सकला तिथि मानी जाती है तथा उसके विपरीत तिथि पैतृकतिथि (क्षयतिथि) मानी जाती है, क्योंकि पण्डितजन अर्द्धपल या पलांशमात्र

भी सूर्योदय के समय जो तिथि है, उसी को प्रशंसनीय मानते हैं। पुनः मास के वर्जन के सम्बन्ध में अन्य लोग इस प्रकार भी कहते हैं कि जिसमें सूर्य अन्य राशि में संक्रमण न करे, ऐसे सूर्यलंघित अधिकमास में भी सर्वकर्म विवर्जित कहे गए हैं। भानुलंघित अधिकमास में पैतृककर्म न करे। कहा गया है कि इस काल में दिया गया महद्दान भी अनित्य और अनिमित्त होता है। इसी प्रकार इस मास में किए गए अग्निहोत्र, यज्ञकर्म, तीर्थयात्रा एवं देवयात्रा भी निष्फल होते हैं।

देवप्रतिमा, आराम (उद्यान), तड़ाग (सरोवर) आदि की प्रतिष्ठा, मोंजी-बन्धन अग्निस्थापना या यज्ञकर्म, इच्छित मृत पुरुष के नाम पर किसी सांड को चिन्हित करके छोड़ना, राज्याभिषेक करना, प्रथम बार चूड़ाकरण करना, अन्नप्राशन एवं नूतन गृह में प्रवेश, व्रत का प्रारम्भ या समाप्त करना (उद्यापन), काम्यकर्म एवं पापों की आलोचना आदि सभी कार्य मलमास में न करे।

पर्युषण में संघ के समक्ष कल्पसूत्र की वाचना करे तथा केश उतारें। केश उतारने की विधि इस प्रकार बताई गई है :-

साधुओं के केश उतारने की विधि तीन प्रकार की है -

१. उस्तरे से २. कैंची से एवं ३. लोच द्वारा। कैंची द्वारा मुण्डन कराने वाले साधु एक-एक पक्ष में, अर्थात् प्रत्येक पक्ष में पुण्डन कराएं। उस्तरे से मुण्डन कराने वाले साधु प्रत्येक मास में मुण्डन कराएं और लोच करवाने वाले साधु चातुर्मास के अन्त में, छः मास के अन्त में या वर्ष के अन्त में लोच करे। क्षुरमुण्डन (उस्तरे से मुण्डन) एवं कैंची द्वारा मुण्डन कराते समय भी खमासमणासूत्रपूर्वक व्रन्दन करना आदि सब क्रियाएँ लोच की भाँति ही करे। मात्र-“दुक्करकियं इंगिणी सहिया” - ये गुरुवचन लोच के सिवाय अन्यत्र न बोलें। क्षोर कर्म के नक्षत्र न होने पर भी क्षोरकर्म की उत्सुकता हो, तो हस्त, चित्रा, स्वाति, मृगशीर्ष, ज्येष्ठा, रेवती, पुनर्वसु, श्रवण एवं धनिष्ठा नक्षत्र में भी क्षुर कर्म करना शुभ बताया गया है। यहाँ जैसा कि कहा गया है -“कार्य की उत्सुकता की स्थिति में, तीर्थ में, प्रेत क्रिया के समय, दीक्षा एवं जन्म के समय, माता-पिता की मृत्यु के समय और क्षौरकर्म कराने में नक्षत्रादि का चिन्तन न करे।

उपनयन, प्रव्रज्या, आचार्य पदस्थापना एवं पर्यूषण आदि में नियम से लोच करना चाहिए। उस समय यदि और नक्षत्र नहीं हों, तो भी कार्य की उत्सुकता में कहे गए नक्षत्रों से भिन्न नक्षत्रों में भी लोचादि क्षौरकर्म कर सकते हैं। यह केशलोच की क्रिया कुछ मुनिजन भाद्रपद में, पौष मास में एवं वैशाख मास में, अर्थात् तीनों चातुर्मासों में करते हैं। कुछ मुनिजन भाद्रमास और फाल्गुनमास अर्थात् छः-छः मास में करते हैं एवं कुछ मुनिजन भाद्रपद में पर्यूषण पर्व के पूर्व, अर्थात् वर्ष में एक बार केशलोच करते हैं। अब केशलोच की विधि वर्णित है -

कार्य की उत्सुकता में वर्जित नक्षत्रों को छोड़कर तथा लोच के लिए बताए गए क्षौर नक्षत्रों, शुभ नक्षत्रों, शुभ तिथि, वार और लोच कराने वाले मुनि का चंद्रबल देखना चाहिए। दृढ़ सत्त्वशाली मुनि गुरु के आगे गमनागमन के दोषों की आलोचना करके एवं उन्हें खमासमणासूत्रपूर्वक वंदन करके कहे -“हे भगवन् ! मैं लोच की मुहँपत्ति का प्रतिलेखन करता हूँ।” तत्पश्चात् मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना करके पुनः खमासमणासूत्र से वंदन करके कहे -“हे भगवन् ! आपकी इच्छा हो, तो मैं लोच करूं या कराऊं ?” गुरु कहे - “करो, मैं आज्ञा देता हूँ।” तत्पश्चात् लोच कराने वाला मुनि विनयपूर्वक साधुओं को लोच करने के लिए कहे। लोच के बाद मुनि गमनागमन में लगे दोषों की आलोचना करके अर्थात् ईर्ष्यावही करके चैत्यवंदन करे। तत्पश्चात् गुरु के समक्ष मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना करके द्वादशावर्तवन्दन सहित खमासमणासूत्र से वन्दन करके कहे-“हे भगवन् ! मैंने लोच कर लिया है। अब आज्ञा दें, मैं किस का स्वाध्याय करूं ?” गुरु कहे -“वंदन करके स्वाध्याय करो।” पुनः शिष्य खमासमणासूत्रपूर्वक वंदन करके कहता है-“मैंने केश का लोच कर लिया है। मैं इस संबंध में आपकी सम्मति चाहता हूँ।” गुरु कहे -“तुमने दुष्कर कार्य किया है। इंगितमरण तो इससे भी अधिक दुष्कर है।” शिष्य पुनः कहता है -“आपके द्वारा जो प्रवेदित किया गया है, उसे मैं अन्य साधुओं को प्रवेदित करूं ?” गुरु कहे -“गुरु-परम्परा से प्राप्त सूत्र, अर्थ एवं सूत्रार्थ से महाव्रतरूप गुणों का वर्द्धन करते हुए संसार-सागर को प्राप्त करने वाले होओ।” तत्पश्चात् शिष्य खमासमणासूत्रपूर्वक वंदन करके कहे -“यदि आप अनुमति दें, तो मैं

कायोत्सर्ग करना चाहता हूँ।“ अनुमति मिलने पर शिष्य कहें - “केश का लोच करते समय, कष्ट को सम्यक् प्रकार से सहन नहीं किया हो, चीखा हो, कर्कश वचन कहा हो, तो उन दुष्कृतों का प्रायश्चित्त करने के लिए मैं कायोत्सर्ग करता हूँ।“ यह कहकर अन्नत्थसूत्र बोलकर कायोत्सर्ग करे। कायोत्सर्ग में चतुर्विंशतिस्तव का चिंतन करे। कायोत्सर्ग पूर्ण करके प्रकट रूप में नमस्कारमंत्र बोले। तत्पश्चात् लोच कराने वाला साधु विधिपूर्वक साधुओं को वंदन करे। जिनकल्पी साधु लोच के दिन उपवास करे तथा स्थविरकल्पी साधु लोच के दिन आयम्बिल या शक्ति के अनुसार अन्य कोई प्रत्याख्यान करें - यह लोच की विधि है।

सामान्यतः कुछ मुनिजन वर्षाकाल के पूर्व वस्त्र धोते हैं, यह सुना जाता है। इस कथन की पुष्टि प्रवचनसारोद्धार से भी होती है - वर्षाऋतु के आने से पूर्व ही मुनि को यतनापूर्वक संपूर्ण उपधि का प्रक्षालन कर लेना चाहिए। यदि जल की सुविधा न हो, तो पात्र नियोग तो अवश्य धोने चाहिए। आचार्य और ग्लान मुनि के मलिन वस्त्र बारंबार धोना चाहिए; कारण मलिन वस्त्र से गुरु की निंदा न हो और ग्लान को अरुचि या अजीर्ण न हो। सभी साधु ग्रीष्मऋतु के अन्त में सभी वस्त्रों को धोते हैं, वर्षा ऋतु में विशेष रूप से उपधि का प्रक्षालन नहीं करते; किन्तु आचार्य, उपाध्याय, ग्लान एवं भगवान् (स्थापनाचार्य) के वस्त्र को बारंबार धोते हैं। तीन प्रहर से अधिक हो जाने पर प्रासुक तिल का पानी, तुष का पानी, यव का पानी और गर्म पानी वर्षाऋतु में नहीं कल्पता है अर्थात् वह सचित्त हो जाता है। जैसा कि आगम में कहा गया है कि तीन उबालयुक्त गर्म जल या अन्य प्रकार से प्रासुक किया हुआ जल सामान्यतः वर्षाऋतु में तीन प्रहर तक मुनियों को कल्प्य है, किन्तु ग्लान आदि के लिए अधिक समय तक भी रखा जा सकता है। उष्णकाल में पाँच प्रहर के पश्चात्, शीतकाल में चार प्रहर के पश्चात् तथा वर्षाकाल में तीन प्रहर के पश्चात् प्रासुक जल भी पुनः सचित्त होकर मुनि के लिए अकल्प्य या अग्राह्य बन जाता है। इस प्रकार श्रेष्ठ मुनिजन इस चर्या का वहन करते हुए वर्षाकाल को पूर्ण करके शरदऋतु को प्राप्त करते हैं - यह वर्षाऋतु की चर्या है।

शरदकाल में साधुओं की यही चर्या बताई गई है। इस ऋतु में विहार न करे, नई वस्तुएँ न लें तथा आहार पानी का यथासंभव त्याग करें - यह शरदऋतु की चर्या है।

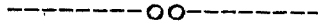
अब व्याख्यान की विधि बताई जा रही है - साधुओं में आचार्य, उपाध्याय और साध्वियों में महत्तरा जो संघ के समक्ष व्याख्यान करते हैं अर्थात् धर्मोपदेश देते हैं, उनके लिए यह कहा है कि वे द्वादशांग, उत्कालिक और कालिक आगम की व्याख्या कायोत्सर्ग एवं योगादि के साथ करें। (अर्थात् योग का वहन करके ही इनका व्याख्यान करे) त्रिषष्टि शलाका पुरुष के संपूर्ण चरित्र की भी व्याख्या करें। गण के वयोवृद्ध साधु-साध्वियों एवं श्रावक-श्राविकाओं के धर्म-सम्बन्धी दृष्टान्त देने के लिए मुनि उन कथानकों को विस्तारपूर्वक विवेचित करें।

मुनि प्रायः इन बारह भावनाओं का व्याख्यान करते हैं - १. अनित्यभावना २. अशरणभावना ३. संसारभावना ४. एकत्वभावना ५. अन्यत्वभावना ६. अशुचिभावना ७. आश्रवभावना ८. संवरभावना ९. निर्जराभावना १०. धर्मख्यात, अर्थात् अरिहंत भाषित धर्म का स्वरूप ११. लोकस्वरूप भावना एवं १२. बोधिदुर्लभ भावना।

सिद्धांत-ग्रंथों एवं उनकी टीका, चूर्णी आदि का प्रसंग अनुसार अध्ययन करे एवं उनके आधार पर धर्मोपदेश दें। इसके अतिरिक्त जैन प्रमाणशास्त्र का भी अध्ययन एवं व्याख्यान करे। वाद-विवाद के लिए अन्य ग्रंथों का भी अध्ययन करें, किन्तु परम अर्हत् द्वारा प्रतिपादित तत्त्वों की व्याख्या धर्माचार के अनुकूल ही करे। वह निरुक्त, ज्योतिष, छन्द, शिक्षा, व्याकरण, कल्प आदि छः शास्त्रों का अध्ययन धर्मोपदेश के लिए करे। वेद, पुराण, स्मृति एवं शिल्प-सम्बन्धी ग्रंथों का अध्ययन न करे और न ही इनका व्याख्यान करें। वैद्यक, कामशास्त्र, दण्डनीति, जीविका, मीमांसा शास्त्रों को भी मुनिजन नहीं पढ़ें। वर्षाकाल में विशेष रूप से साधु धर्मकथा कहें। धर्मोपदेश के समय मुनि अन्य कार्यों का त्याग करे। शान्त स्वभाव के मुनिजन पर्यूषण के आने पर कल्पसूत्र की वाचना करें, किन्तु प्रथम

तीन दिन श्रावकों की इच्छानुसार उनके कर्तव्यादि की वाचना दें। जहाँ-जहाँ वाचना होती है, वहाँ संघपूजा और महोत्सव भी होता है। मुनियों को सर्वशास्त्र पढ़ने चाहिए, परन्तु व्याख्यान और आचरण तो परम आगम में कहे गए अनुसार ही करना चाहिए। जैसा कि आगम में कहा गया है - सब सीखें, पर सभी का आचरण न करे, अर्थात् जानें सब कुछ पर पालन उसी का करें, जो आगम में निर्दिष्ट है।

आचार्य वर्द्धमानसूरिकृत “आचारदिनकर” में यतिधर्म के उत्तरायण में ऋतुचर्या व्याख्यान कीर्तन नामक यह एकतीसवाँ उदय समाप्त होता है।



// बत्तीसवाँ उदय //

अंतिम संलेखना विधि

कर्मक्षय एवं मोक्ष की आकांक्षा वाले वृद्ध निरोगी मुनि द्वारा ग्रहण की जाने वाली संलेखना की अवधि बारह वर्ष बताई गई है। उसकी विधि इस प्रकार है -

चार वर्षपर्यन्त विभिन्न प्रकार के तप करे। चार वर्षपर्यन्त विविध प्रकार के तप करते हुए विकृति (विगय) रहित पारणा करे। दो वर्ष एकान्तरित आयम्बिल सहित उपवास करे। पश्चात् छः मास तक विकृष्ट नहीं, किन्तु हल्का (सामान्य) तप करे और पारणे के दिन परिमित आहार लेकर आयम्बिल करे। तत्पश्चात् छः मास तक विकृष्ट तप करे, फिर एक वर्ष पर्यन्त कोटि सहित आयम्बिल करे। इस प्रकार बारह वर्ष तक संलेखना हेतु तप करने के पश्चात् पर्वत की गुफा में जाकर पादोपगमन अनशन स्वीकार करे। चार वर्ष तक एकान्तरित उपवास के पारणे एकभक्त, इस प्रकार का विचित्र तप करे। इसी विधि को ही स्पष्ट करते हुए अन्यत्र इस प्रकार से भी कहा गया है - चार वर्ष तक विभिन्न तप, अर्थात् बिना अन्तर के दो उपवास, तीन उपवास, चार उपवास, पाँच उपवास, आठ उपवास, पक्षक्षमण (पन्द्रह दिन के निरन्तर उपवास), मासक्षमण आदि करे। पारणे में एकासन करे। तत्पश्चात् पुनः चार वर्ष तक इसी प्रकार एकान्तर तप, अर्थात् एक दिन उपवास और एक दिन आहार करे, उस पारणे के दिन भी नीवि करे। फिर दो वर्ष तक एकान्तर तप करे तथा पारणे में नीवि या आयम्बिल करे। फिर छः मास तक उपवास या छट्ट करे तथा पारणे में ऊनोदरीयुक्त आयम्बिल करे। तत्पश्चात् छः मास तक दशम तप करे और पारणे में आयम्बिल करे। तत्पश्चात् एक वर्ष तक कोटिसहित (विशेष नियम सहित) आयम्बिल करे। कोटिसहित आयम्बिल में आयम्बिल के बाद पुनः आयम्बिल - इस प्रकार सतत आयम्बिल होते हैं। तत्पश्चात् पर्वत की गुफा में जाकर पादोपगमन अनशन करके वांछित गति को प्राप्त करे - यह बारह वर्ष के संलेखना की विधि है। इन बारह वर्षों के मध्य भी यदि साधु मृत्यु को प्राप्त कर लेता है, तो उसमें कोई दोष नहीं है। आगम में कही गई

विधि से व्रत का पालन करते हुए कदाचित् पूर्वकर्म के कारण उसे रोग या शरीर में पीड़ा उत्पन्न हो जाए, तो वह जब तक हो सके, उसे सहन करे, अर्थात् व्यथित न हो और चिकित्सा न कराए, किन्तु साधक के व्यथित होने पर प्रधान मुनि का यह कर्तव्य है, कि वह विषम उपायों से, अर्थात् अपवादमार्ग का आश्रय लेकर भी उसकी रक्षा करे, क्योंकि उसके बिना शासन शून्य हो जाएगा, अर्थात् जिनशासन की अवहेलना भी होगी। जैसा कि आगम में कहा गया है - “यतिजन चिकित्सा न कराएं, रोगजन्य पीड़ा सम्यक् प्रकार से सहन करे। सम्यक् प्रकार से सहन करते हुए जब तक कि उसके कारण से योग, अर्थात् शारीरिक, वाचिक एवं मानसिक प्रवृत्तियाँ शिथिल न हो, तब तक उपचार न कराएं। ऋजु व संविग्न विहारी मुनिजनों के सर्वप्रयत्न जिनशासन की शोभा बढ़ाने के लिए होना चाहिए, किन्तु जिनकल्प का ग्रहण करने वालों के अतिरिक्त विरुद्ध रूप से जिनसिद्धान्त की प्ररूपणा करने वाले ज्ञानीजनों की और सिद्धांत-शास्त्र का अध्ययन करने वालों की चिकित्सा आदि के माध्यम से जीवनरक्षा करनी चाहिए, किन्तु चिकित्सा करने पर भी यदि रोग का निरोध न हो, तो पूर्ण आयुष्यवाला मुनि अपनी मृत्यु को निश्चित जाने। योगशास्त्र के पंचम प्रकाश में वर्णित बाह्य चिन्हों एवं आभ्यन्तर साधनों से मृत्यु को निकट जानकर मुनि अन्त्य आराधना करें। उसकी विधि इस प्रकार है-

अवश्यम्भावी मृत्यु के आने पर मुहूर्त आदि की शुद्धि का विचार करना आवश्यक नहीं है। ग्लान के समक्ष चतुर्विध संघ को एकत्रित करके जिनबिम्ब को लेकर आए। तत्पश्चात् ग्लान द्वारा दर्शन कर लेने पर ग्लान की शक्ति हो, तो वह स्वयं अर्हत् परमात्मा का चार स्तुतियों से युक्त चैत्यवंदन करे, अन्यथा उसके सहचर मुनिजन उपर्युक्त विधि से चैत्यवंदन कराएं। तत्पश्चात् शान्तिनाथ, श्रुतदेवता, क्षेत्रदेवता, भुवनदेवता, शासनदेवता, वैयावृत्यकरदेवता की आराधना हेतु पूर्ववत् कायोत्सर्ग एवं स्तुतियाँ करें। तत्पश्चात् आराधनादेवता का ऋयोत्सर्ग करे, कायोत्सर्ग में चार बार चतुर्विंशतिस्तव का चिन्तन करे। कायोत्सर्ग पूर्ण करके प्रकट रूप से चतुर्विंशतिस्तव बोले। फिर शक्रस्तव का पाठ करके शान्तिनाथस्तोत्र एवं जयवीराराय आदि गाथाएँ

बोले। तत्पश्चात् आराधना कराने वाले आचार्य, उपाध्याय, वाचनाचार्य या मुनि आसन पर बैठकर वासक्षेप को अभिमंत्रित करे। फिर “उत्तम आराधना के लिए वासक्षेप करे”- ऐसा ग्लान के मुख से बुलवाकर उसके सिर पर वासक्षेप एवं अक्षत डाले। तत्पश्चात् ग्लान तीन बार नमस्कार मंत्र बोलकर पुनः कहे - “मेरी स्मृति के अनुसार इस जीवनकाल में जिन-जिन स्थानों पर जिन परिस्थितियों में मैंने जिन परमात्मा की आशातना की हो, या अपराध किया हो, तो उन सब पापों की मैं आलोचना करता हूँ, किन्तु घातीकर्मों से युक्त छद्मस्थ मूढ़ मन वाला यह जीव किंचित् मात्र का स्मरण कर सकता है (सब नहीं)। अतः जो मुझे स्मरण है तथा जो स्मरण नहीं है, वे सब मेरे दुष्कृत (पाप) मिथ्या हों। मैं उनकी आलोचना करता हूँ। मैंने मन से जो-जो अशुभ चिंतन किया हो, वचन से जो-जो अशुभ बोला हो तथा काया से जो-जो अशुभ किया हो, वह मेरा सब दुष्कृत्य मिथ्या हो। देह धारण की सार्थकता जन्म-मरण से मुक्त होने में तथा पापों के प्रति आसक्ति का त्याग करने में है।” यह गाथा ग्लान से बुलवाकर उससे आलोचना करवाए। आलोचना की विधि प्रायश्चित्त अधिकार में दी गई है। तत्पश्चात् ग्लान आचार्य, उपाध्याय, साधु, साध्वी, श्रावक एवं श्राविका प्रत्येक से क्षमापना करे और यह गाथा बोले - “साधु-साध्वी एवं श्रावक-श्राविका रूप चतुर्विध संघ ने भी यदि मन-वचन- काया से मेरी कोई आशातना की हो, तो मैं भी उनको क्षमा करता हूँ। यदि किसी ने मेरा कोई अपराध किया हो, तो मैं उसको क्षमा करता हूँ और वैसे ही यदि मैंने किसी का अपराध किया हो, तो वह भी मुझे क्षमा करें। मेरी सब जीवों के साथ मित्रता है, किसी के साथ शत्रुता नहीं है। अरिहंत ही मेरे देव हैं और सुसाधु ही मेरे गुरु हैं। इस प्रकार मैं विशेष रूप से सम्यक्त्व को स्वीकार करता हूँ।” तत्पश्चात् समाधिमरण का इच्छुक ग्लान “करेभि भंते सामाइयं”- इस सर्वविरति सामायिक दण्डक का तीन बार उच्चारण करता है तथा उपस्थापना की भाँति तीन बार पंचमहाव्रतों के दण्डक अर्थात् प्रतिज्ञा-पाठ का भी उच्चारण करता है। तत्पश्चात् “चत्तारि मंगलं” से लेकर “केवलि पण्णत्तं धम्मं सरणं पवज्जामि” तक इस पाठ का तीन बार उच्चारण करे। फिर नमस्कारमंत्र बोलकर “उत्तम

स्थान में स्थित महिमावान् श्रमण भगवान् महावीर को नमस्कार करके कहे - “मैं सर्वथा १. प्राणातिपात २. मृषावाद ३. अदत्तादान ४. मैथुन ५. परिग्रह ६. क्रोध ७. मान ८. माया ९. लोभ १०. राग ११. द्वेष १२. कलह १३. अभ्याख्यान १४. अरतिरति १५. पैशून्य १६. परपरिवाद १७. माया-मृषावाद एवं १८. मिथ्यात्वशल्य - इन अट्टारह पापस्थानकों का तीन योग एवं तीन करण से त्याग करता हूँ।” फिर आहार का सागार प्रत्याख्यान करे - “भवचरिमं पच्चक्खाइ तिविहं पि आहारं असणं खाइमं साइमं अन्नत्थणाभोगेणं सहसागारेणं महत्तरागारेणं सव्वसमाहिवत्तिआगारेणं वोसिरामि”- (यह सागार अनशन प्रत्याख्यान का पाठ है) अथवा निम्न पाठ से अणगार प्रत्याख्यान करे - “भवचरिमं पच्चक्खाइ चउविहंपि आहारं असणं पाणं खाइमं साइमं अन्नत्थणाभोगेणं सहसागारेणं महत्तरागारेणं सव्वमाहिवत्तिआगारेणं वोसिरामि” (यह अनागार अनशन प्रत्याख्यान का पाठ है।)

तत्पश्चात् संघ शान्ति के निमित्त “संसार-सागर से पार करने वाले होओ”- ऐसा कहकर उसके समक्ष वासक्षेप एवं अक्षत डाले। फिर अनशन किए हुए त्रिविध आहार के प्रत्याख्यानी उस मुनि को केवल गर्म किया हुआ प्रासुक जल ही दें, अन्य कुछ न दें। उसके समक्ष (यह पाठ करे) - भगवान् ऋषभदेव - अष्टापद पर, महावीर स्वामी - पावापुरी, वासुपूज्य स्वामी - चम्पापुरी में, नेमिनाथ भगवान् - गिरनार पर एवं शेष बीस तीर्थंकर सम्मत्तशिखर पर निर्वाण को प्राप्त हुए। ऋषभदेव ने चौदह भक्त (छः उपवास) करके, वीरजिन ने छट्ठभक्त (बेला) करके एवं शेष बाईस जिनवरों ने तीस उपवास करके निर्वाण को प्राप्त किया। महावीर स्वामी एकाकी, पार्श्वजिन तैंतीस मुनिजनों के साथ, वासुपूज्य छः सौ मुनिजनों के साथ, धर्मनाथ भगवान् - आठ सौ मुनिजनों के साथ, पद्मप्रभु तीन सौ आठ मुनिजनों के साथ, शातिनाथ भगवान् - एक सौ आठ मुनिजनों के साथ, विमलनाथ भगवान् - छः हजार मुनिजनों के साथ, ऋषभदेव - दस हजार मुनिजनों के साथ, अनंतनाथ - सात हजार मुनिजनों के साथ एवं शेष जिन एक-एक हजार मुनिजनों के साथ मोक्ष गए। रोग, वृद्धावस्था एवं मृत्यु रूप तीनों शत्रुओं से यह शरीर कृश होकर विषम

स्थिति को प्राप्त हुआ है, अतः इसके प्रति आसक्ति रखना उचित नहीं है, जाग्रत होकर इन कर्मशत्रुओं को भगा। अरे ! इस जीव ने पापकृत्य करते हुए अनेक प्रकार की सैकड़ों योनियों में भ्रमण किया है, लाखों भव व्यतीत करने के पश्चात् यह जिनमत दुर्लभता से प्राप्त हुआ है। यह पापी जीव प्रमाद के वशीभूत होकर सांसारिक कार्यों में ही लगा हुआ है, न तो सुखों से संतुष्ट हुआ है, न दुःखों से निवृत्त हो पाया है। इस जीव ने जानते हुए भी सैकड़ों शरीरों को धारण किया है और छोड़ा है। फिर भी त्रिभुवन में जो सब कुछ प्राप्तव्य है, उसका तो बहुत ही अल्पांश इसे मिलता है। इस जीव ने अनेक भवों में नख, दाँत, मांस, केश, अस्थि आदि का जो परित्याग किया है, उससे कैलाश या मेरु पर्वत के अनेक कूट खड़े हो सकते हैं और इस जीव ने जितना आहार किया है, वह तो हिमवंत पर्वत, मलय पर्वत, समुद्र में रहे हुए द्वीपों या पृथ्वी के परिमाण से भी कहीं अधिक है। इसने जितना जल पीया है, वह इस जगत् के समस्त सरोवर, तालाब, नदी और समुद्र के जल से भी अधिक है। अनंतकाल से संसार में परिभ्रमण करते हुए इस जीव ने काम-भोगों को प्राप्त करके उनका उपभोग भी किया है तथा काम-भोगों को ही अपूर्व मानते हुए उसी में सुख का अनुभव करता रहा है। यह जानते हुए भी कि सभी भोग एवं संपदाएँ धर्म से प्राप्त होती हैं, यह मूर्ख जीव पापकर्मों में रमण करता रहा है। यह जानते हुए और मानते हुए कि जन्म, जरा और मृत्यु दुःख से परिपूर्ण हैं, फिर भी कर्मों से प्रगाढ़ रूप से आबद्ध यह मायावी जीव विषयों से विरक्त नहीं हो सका है। यह जानते हुए भी कि देवता भी मृत्यु को प्राप्त करते हैं और बुढ़ापा शरीर को विनिष्ट कर देता है, फिर भी वह देह के लोभ से, अर्थात् जीने की आकांक्षा से मुक्त नहीं हो पाया है - ये सब कितने आश्चर्य की बातें हैं। द्विपद, चतुष्पद, बहुपद और अपद आदि की महत् समृद्धि को प्राप्त करने हेतु अकरणीय को भी करते हुए इसकी तृष्णा शान्त नहीं होती है। जिस प्रकार से आकाश तत्त्वों को रहने में प्रतिघात नहीं करता है, उसी प्रकार से धीर पुरुषों के मरणकाल के समय सिद्ध अवस्था को प्राप्त करने में जीव का भी कोई प्रतिघात नहीं होता। - इन गाथाओं को ग्लान को सुनाएँ और

इनकी व्याख्या करें अथवा ग्लान के समक्ष तीर्थस्तोत्र, शाश्वत और अशाश्वत चैत्य के स्तोत्र आराधनाकुलक आदि की या उत्तराध्ययनसूत्र, भव-भावना आदि की व्याख्या करे; या फिर संवेगरंगशाला पढ़ें। इस अवसर पर श्रावकजन संघपूजादि बहुत महोत्सव करते हैं। “संघपूजा, जिनवंदन, कायोत्सर्ग, स्तुति, क्षमापना, नमस्कारमंत्र की सम्यक् स्मृति, तीर्थ स्तुति एवं चतुःशरण का ग्रहण - इस विधि से साधु जीवन के अंत में संलेखनाव्रत की साधना पूर्ण करता है और कालस्थिति के अनुसार मोक्ष एवं स्वर्ग को प्राप्त करता है। यह अंतिम (पर्यन्त) आराधना या संलेखना की विधि है।

अब मुनि के मृत शरीर की परिष्ठापन विधि बताई जा रही है -

साधु के प्राण निकल जाने पर उसके शरीर के विसर्जन की क्रिया सभी मुनिजन करते हैं। सर्वप्रथम मुनिजन तीन प्रकार की स्थंडिल भूमि - १. दूरस्थ, २. मध्यमदूरी एवं ३. निकटस्थ की गवेषणा करें। फिर सुगन्धित केसर से अभिसिक्त तीन श्वेत वस्त्र धारण करें - एक मध्य प्रस्तरण, दूसरा पहनाने के लिए एवं तीसरा ऊपर डालने के लिए। मृतक साधु के मुख को तुरंत मुखवस्त्रिका से ढक दें, चाहे मृत्यु दिन में हुई हो या रात में। हाथ एवं पैर के अंगूठे और अंगुलियों को परस्पर बाँध दें। यदि मुनि की मृत्यु रात्रि में हो, तो रात्रि जागरण करें। उस समय जो शिष्य बाल हो, कायर हो, अगीतार्थ हो - वे सब उस स्थान से चले जाए और जो गीतार्थ हों, निर्भीक हो, जितनिद्रा हों, उपाय करने में कुशल, फुर्तीले और अप्रमादी हों, वे उस मृतक की देह के समीप रहें। मूत्र को परटे नहीं, वरन् अपने पास में ही रखें। यदि शव उठे, तो गीतार्थ मुनिजन हृदय पर पत्थर रखकर बाएँ हाथ से तिर्पणी में से मूत्र लेकर उसके ऊपर निम्न मंत्र बोलकर छींटे - “गाहाय मा उट्ट बुज्झ-बुज्झ गुज्झ मा मुज्झ” यह रात्रि के शव के समीप जागरण की विधि है। तत्पश्चात् मृतक देह को स्नान कराकर, केशर, कर्पूर आदि से विलेपित करके उसके सम्मुख पाँच रत्न रखें। चोलपट्ट एवं चादर से आवृत्त करके पूर्व में प्रतिपादित किए गए वस्त्रों सहित उसे शिविका में स्थापित करे। मुखवस्त्रिका, रजोहरण आदि उपकरण उसके समीप में

रखे। कुछ आचार्यों के मतानुसार जिनकल्पी, स्थविरकल्पी एवं साध्वी आदि के अनुरूप क्रमशः बारह, चौदह एवं पच्चीस उपकरण स्थापित करना चाहिए। सोना, चाँदी, मूंगा, मोती और पाँचवा रजपट्ट - ये पाँच रत्न बताए गए हैं। जिस नक्षत्र में साधु के जीव ने प्रयाण किया है - उस नक्षत्र का विचार करें "विशाखा, रोहिणी, उत्तरात्रय और पुनर्वसु - ये नक्षत्र पैतालीस मुहूर्त के कहे गए हैं।" इन नक्षत्रों में मृत साधु के शव के पास दो कुश के पुतले बनाकर रखें एवं उनके हाथ में लघु रजोहरण एवं मुखवस्त्रिका भी रखें। मृतक साधु के बाएँ हाथ की तरफ उसके स्वयं के उपकरणों एवं कुशमय पुतलों को डोरी से बाँध दें, ऐसा नहीं करने से अन्य दो साधुजनों पर विपत्ति आती है - ऐसा माना जाता है। अश्विनी, कृत्तिका, पुष्य, मृगशीर्ष, मघा, पूर्वाफाल्गुनी, हस्त, चित्रा, अनुराधा, धनिष्ठा, पूर्वाभाद्रपदा, पूर्वाषाढा, मूल, श्रवण एवं रेवती - ये पन्द्रह नक्षत्र भी अशुभ ही हैं। विचक्षणजन इनका काल तीस मुहूर्त का बताते हैं। इन नक्षत्रों में भी पूर्व की भाँति ही एक कुश का पुतला बनाए। ऐसा नहीं करने पर अन्य किसी एक मुनि का विनाश होता है - ऐसी मान्यता है। आर्द्रा, आश्लेषा, शतभिषा, भरणी, स्वाति, मृगशीर्ष - इन पन्द्रह मुहूर्तों के नक्षत्रों में मृत्यु होने पर कुछ न करे - यह नक्षत्र का विधान है। चार कंधों पर उठाई जाने वाली पालकी बनाकर उसके बाद यह विधि करे। वे सब बाँई कांख के नीचे करके चादर को विपरीत रूप से ओढ़े तथा रजोहरण एवं मुखवस्त्रिका आदि भी विपरीत रूप से ग्रहण करे, अर्थात् कटि के भाग में रखी जाने वाली दसियों को आगे की तरफ तथा दण्ड को पीछे की तरफ धारण करे। रजोहरण बाएँ हाथ की अपेक्षा दाएँ हाथ में एवं मुखवस्त्रिका भी दाएँ हाथ की अपेक्षा बाएँ हाथ में पकड़कर और छोटे साधु को आगे करके विपरीत विधि से शक्रस्तव आदि सूत्र बोलें (उल्ता चैत्यवंदन करें)। पहले जयवीरारायसूत्र बोलें, फिर शांतिस्तव, उसके बाद शक्रस्तव तत्पश्चात् इरियावही फिर उसके बाद पुनः सामान्य विधि के अनुसार चादर ओढ़कर तथा ज्येष्ठ साधुओं को आगे करके, सम्यक् प्रकार से रजोहरण एवं मुखवस्त्रिका को धारण करके इरियावही करें। तत्पश्चात् क्रम से शक्रस्तव, शान्तिस्तव एवं जयवीराराय तक बोलकर चैत्यवंदन करें। तत्पश्चात्

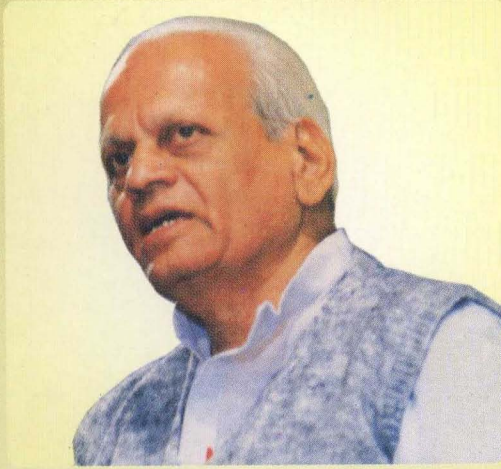
“शिवमस्तु सर्वजगतम्” इत्यादि बोलें। फिर “हे भगवन् ! आवस्ती”-यह कहकर अपने उपाश्रय में आएँ। उपाश्रय के द्वार पर आकर पुनः चादर को उतारकर सुवर्ण जल के छींटे लें। उपाश्रय के मध्य में जाकर गर्म जल से (प्रासुक जल) से देह प्रक्षालित करें। आचार्य हो, महान् अनशन करने वाला हो, महातपस्वी हो या बहुत से लोगों को प्रिय हो - ऐसे साधु की मृत्यु होने पर तीन दिन का अस्वाध्यायकाल होता है तथा एक उपवास करना होता है। अन्य किसी की मृत्यु होने पर अस्वाध्यायकाल न मानें और न ही उपवास करें। अशुभ दिन में उत्थापन (उठावना), कायोत्सर्ग आदि का आरम्भ नहीं करते हैं। शुभ दिन में जिनपूजापूर्वक उत्थापन (उठावना) एवं शुभ कार्यों को प्रारम्भ करें - यह महापरिष्ठापना की विधि है। आचार्य आदि या अनशन करने वाले मृतकमुनि की शोभायात्रा आदि श्रावक करते हैं। प्रतिस्थापित शव की संस्कार-विधि करने का कार्य श्रावकों का है।

व्रतारोपण, योगोद्धहन, तपस्या, उपस्थापना, आवश्यक आदि सभी कार्यों की विधि साधु-साध्वियों के लिए समान ही बताई गई है। वन्दन एवं प्रतिष्ठा (स्थापना) आदि कार्यों में साध्वी का सवस्त्र होना आवश्यक है। विधिकारक श्राविका-श्रावक के कार्यों (कर्तव्यों) में ही भेद होता है, अन्य बातों में नहीं। साधु-साध्वियों की मृत्यु होने पर सूतक, पिण्डदान, शोक आदि नहीं होते।

इस प्रकार आचार्य वर्द्धमानसूरिकृत “आचारदिनकर” में यतिधर्म के उत्तरायण में अन्तसंलेखना-कीर्तन नामक यह बत्तीसवाँ उदय समाप्त होता है।

-----००-----

प्राच्यविद्यापीठ के संस्थापक निदेशक एवं ग्रन्थमाला सम्पादक



डॉ. सागरमल जैन



प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर (म.प्र.)

प्रकाशन सूची

1. जैन दर्शन के नव तत्त्व - डॉ. धर्मशीलाजी
2. Peace and Religious Harmony - Dr. Sagarmal Jain
3. अहिंसा की प्रासंगिकता - डॉ. सागरमल जैन
4. जैन धर्म की ऐतिहासिक विकास यात्रा - डॉ. सागरमल जैन
5. जैन गृहस्थ को षोडशसंस्कार - अनु. साध्वी मोक्षरत्नाश्री
6. जैन मुनि जीवन के विधि-विधान-अनु. साध्वी मोक्षरत्नाश्री



साध्वी श्री मोक्षरत्नाश्रीजी का जन्म राजस्थान के गुलाबी नगर जयपुर में सन् 1975 को एक सुसंस्कारित धार्मिक परिवार में हुआ। पिता श्री छगनलालजी जुनीवाल एवं माता श्रीमती कान्ताबाई के धार्मिक संस्कारों का आपके बाल मन पर इतना गहरा प्रभाव पड़ा कि व्यवहारिक अध्ययन के साथ-साथ ही आप धार्मिक अध्ययन पर विशेष ध्यान देने लगी। शनैः-शनैः आपमें वैराग्य-भावना विकसित होती गई और चारित्र्य व्रत अंगीकार करने का निर्णय ले लिया। आपके दृढ़ संकल्प को देखकर परिजनों ने सहर्ष दीक्षा ग्रहण की आज्ञा प्रदान कर दी। अंततः सन् 1998 में जयपुर में ही पू. चंद्रकला श्रीजी म.सा. की पावन निश्रा में प.पू. हर्षयशा श्री जी म.सा. की शिष्या के रूप में दीक्षित हो गयी। आपका नाम साध्वी मोक्षरत्ना श्री रखा गया। धार्मिक अध्ययन के साथ-साथ आपने गुजरात यूनिवर्सिटी से स्नातकोत्तर उपाधि प्राप्त की। वर्तमान में आप प्रखर विद्वान डॉ. सागरमलजी जैन के निर्देशन में पी.एच.डी. हेतु अध्ययनरत हैं और **आचारदिनकर** के शेष भाग के अनुवाद को पूर्ण करने हेतु अग्रसर हैं।